सम्पादक
रमेश मेहता

हमारा साहित्य 1980

जम्मू एण्ड कश्मीर अकादेमी आफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़, जम्मू
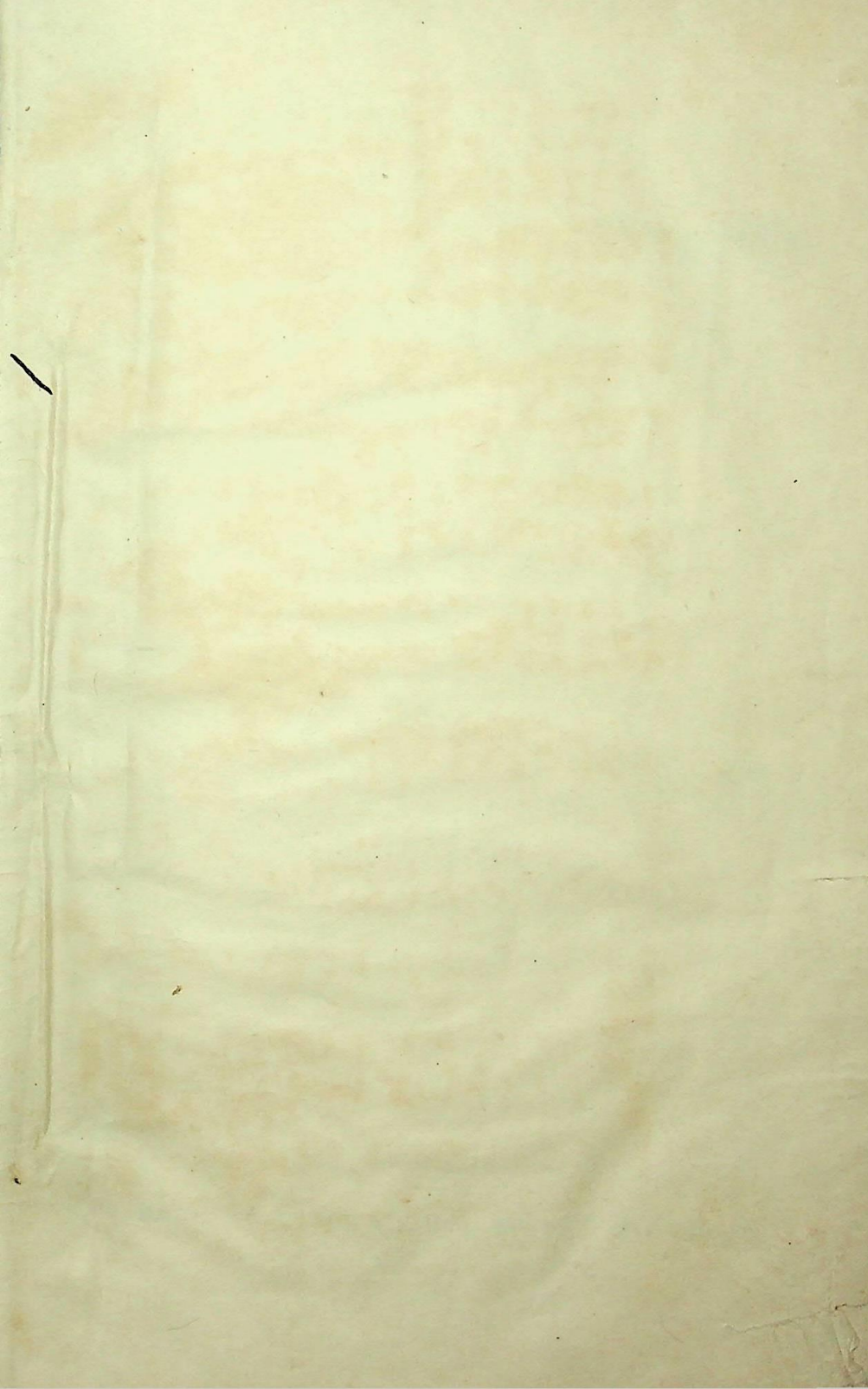
हमारा साहित्य

(जम्मू-कश्मीर की सांस्कृतिक विरासत)

सम्पादक
रमेश मेहता

जे० एण्ड के० अकादेमी ऑफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़, जम्मू
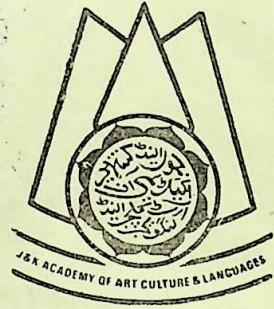
सचिव द्वारा जे० एण्ड के० अकादमी
ऑफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़,
नहर मार्ग, जम्मू के लिए
प्रकाशित

□

प्रिंट हाउस, एक्सचेंज रोड, जम्मू
द्वारा मुद्रित

□

प्रथम संस्करण 1982

□

प्रकाशन-व्यवस्था : विजय सूदन

□

मूल्य : Rs. 9-50

HAMARA SAHITYA – 1980
(Cultural Heritage of Jammu & Kashmir)
Edited by : Ramesh Mehta
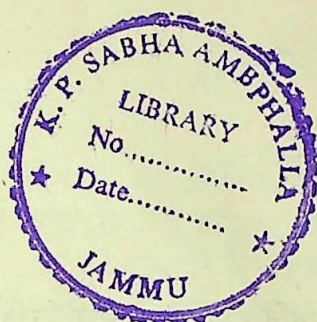
एक डोगरी लोकगीत

इक मन मेरा, दूजा तेरा हो ।
तीजा मन तोपनीं कसेरा हो ॥

थोड़ा मन मेरे कन्नै लायां हो ।
थोड़ा मन नदिया रुढ़ायां हो ॥

मेरा मन पतरे दा पानी हो ।
तेरा मन नदिया रुढ़ानी हो ॥

खसम मरैं रण्डी रौह्ना हो ।
यार मरैं कियां जीना हो ॥

तन्द जे त्रुट्टै गण्डी लैनी हो ।
ग्रम्बर फटटै कियां सीना हो ॥

———

"धनि धनि श्री कश्मीर धरनि, मन-हरनि सुहावनि।
धनि कश्यप-जस धुजा, विश्वमोहिनी मन भावनि।।
धनि पुरातन प्रथित धाम, अभिराम अतुल छवि।
स्वर्ग सहोदरि धरनि बरनि हारे कोविद कवि।।"

—श्रीधर पाठक

□

Ladakh is a moonland where earth and sky seem to meet and it looks like the roof of the world. It is a vast sandy desert full of gold granite dust and barren lofty mountains. The naked peaks seem to touch the blue and clear horizon. There are a few valleys here and there surrounded by high mountain ranges.

—Tokan D. Somi, Masato Oki & F. M. Hassnain

अपनी बात

□

'हमारा साहित्य' का प्रस्तुत अंक समर्पित है उस एक दृष्टि को जो अनेकता में एकता देखती है और जो अतीत को "बीते हुए कल की बात" कह कर टाल देने से परहेज करती है। हमारा अतीत हमारा वर्तमान है और हमारा वर्तमान हमारा भविष्य। तात्पर्य यह कि हमारी इस सृष्टि में कोई भी वस्तु एकांगी नहीं है और न निरपेक्ष हो सकती है। एक का दूसरे से सम्बन्ध जुड़ा है—कोई माने या न माने, यह बहस का एक अलग मुद्दा हो सकता है।

जम्मू-कश्मीर की सांस्कृतिक विरासत की खोज-पड़ताल करते हुए मुझे इस तथ्य से दो-चार होना पड़ा है कि हिन्दी में आज एक भी ऐसी पुस्तक नहीं है जो जम्मू-कश्मीर प्रदेश को उसकी समग्रता में रेखांकित करती हो। यह हमारा दुर्भाग्य ही है कि जम्मू, कश्मीर और लद्दाख पर सर्वश्रेष्ठ पुस्तकों के अधिकांश लेखक पश्चिमी देशों से आए थे। अपनी सांस्कृतिक विरासत के प्रति हमारी यह उदासीनता उपेक्षा की हद तक पहुंची हुई है इसीलिए प्रस्तुत पुस्तक के लिए प्रस्तावित विषयों पर लेख जुटाना, 'जूए-शीर' का लाना प्रमाणित होने लगा था। मुझे यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं है कि हमारी सांस्कृतिक विरासत जितनी समृद्ध है, उससे परिचय के नाम पर हम उतने ही कंगाल हो चुके हैं। फिर भी मैं हतोत्साहित नहीं हूं। कारण ?—प्रस्तुत पुस्तक में जो लेख संकलित हैं वे नयी सम्भावनाओं, नई दिशाओं की ओर संकेत करते तो हैं। प्रस्तुत पुस्तक एक शुरुआत है···अपने अतीत को जानने और समझने की और जब आप एक बार यात्रा पर निकल पड़ते हैं तो रास्ते में जितने भी पड़ाव आते हैं वे आपके अनुभव को समृद्ध बनाते हैं, समवेदना को गहराते हैं। मुझे इस बात का सतोष है कि इस अंक में संकलित सामग्री जम्मू-कश्मीर की संस्कृति को, टुकड़ों में ही सही, रूपायित तो करती है।

इस अंक में प्रकाशित लेख जहां एक ओर कश्मीरी ललित कलाओं के विकास का परिचय देते हैं, लोकगीतों की सम्पदा का दिग्दर्शन कराते हैं, और वस्त्राभूषणों की बानगी प्रस्तुत करने में हमारी सहायता करते हैं वहीं "कश्मीरी शैव दर्शन में सृष्टि" के स्वरूप को समझने तथा "कश्मीर में बुद्धमत" के प्रभाव को रेखांकित करने में भी हमारे सहायक बनते हैं। "डुग्गर के कुल देवताओं" के संदर्भ में ओम गोस्वामी का लेख इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि यह इस दिशा में अपनी तरह का पहला प्रयास है। इससे हमें डोगरा जन-जीवन के लोक-विश्वासों को समझने में बड़ी सहायता मिलती है। इसी प्रकार डुग्गर के लोकनाचों और लद्दाख के लोसर मेले से हमारा परिचय करवाया है क्रमश:— विश्वानाथ खजूरिया और छेवांग रिगज़िन ने। ज्योतीश्वर पथिक के लेख 'इनका भी अपना एक जीवन है' में जम्मू-कश्मीर की जनसंख्या की एक महत्वपूर्ण इकाई गुज्जरों की जीवन-यात्रा का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया गया है।

हमारा प्रयास रहेगा कि "जम्मू-कश्मीर की सांस्कृतिक विरासत" का समग्र रूप से आकलन किया जा सके। इसके लिए समय-समय पर इस विषय पर 'हमारा साहित्य' के विशेषांक प्रकाशित कर हमें प्रसन्नता ही होगी। विश्वास है सहृदय पाठक एवं विद्वान लेखक इस पुनीत कार्य में हमसे सहयोग करके हमें अनुगृहीत करेंगे।

—रमेश मेहता

अनुक्रम

□

जम्मू कश्मीर
की
सांस्कृति विरासत

□

कश्मीरी शैव दर्शन में सृष्टि

—प्रो० वलज्जिनाथ पण्डित

हमारे सांख्य शास्त्र में वर्तमान काल के विज्ञान की ही भांति जगत की सृटि मूल प्रकृति के परिणाम से मानी गई है। अंतर केवल इतना है कि विज्ञान के आचार्यों ने उसका नाम विद्युत शक्ति कहा है, प्रकृति नहीं। इसी स्वतंत्र परिणाम के सिद्धांत के कारण सांख्य शास्त्र को हम लोग अर्धनास्तिक दर्शन कहते हैं। हमारा पूरा और उत्कृष्ट आस्तिक दर्शन अद्वैत शैव दर्शन है। उस दर्शन का सिद्धान्त है कि जो कुछ है वह मूलतः परशिव के भीतर परशिव बनकर ही सदैव विद्यमान रहता है। वहां समस्त विश्व है, परन्तु शुद्ध चेतना के ही रूप में है, विश्वरूपता का तो वहां नाम भी नहीं। जैसे बोज में वृक्ष बीज बनकर ही रहता है, वृक्ष के रूप में नहीं। बीज की अवस्था में तो वृक्षता का नाम भी नहीं। बीज से वृक्ष गर्मी, जलांश और मृत्तिकांश के प्रभाव से उत्पन्न हो जाता है, परन्तु परशिव से विश्व परशिव की इच्छा से, उसकी चेतना के स्पन्दन से, उसकी अनिरुद्ध स्वतन्त्रता, अनोखे विलास से, उसकी परमेश्वरता के प्रभाव से उत्पन्न होता है, किसी बाह्य कारण से नहीं। वेदान्त की अविद्या या माया से भी नहीं और बौद्धवाद की वासना से भी नहीं। बीज से जब वृक्ष उत्पन्न हो जाता है, तो बीज समाप्त हो जाता है, उसका छिलका खोखला हो जाता है। अतः कहा जाता है कि बीज का वृक्ष के रूप में परिणाम हो गया परन्तु परशिव से जब विश्व उत्पन्न होता है, तो परशिव फिर भी परशिव ही बना रहता है। उसके स्वरूप और स्वभाव में कोई अंतर नहीं आता। यही तो

उसकी स्वतन्त्रता की महिमा है। उसका परिणाम नहीं होता। विश्व के उत्पन्न हो जाने पर परशिव खाला या खोखला नहीं हो जाता। उसमें विश्व उस अवस्था में भी शुद्ध चेतना के रूप में विद्यमान रहता है। जो विश्व उसमें चेतनामय बना रहता है वही उसकी इच्छा के उल्लास से विश्व के रूप में भी प्रकट हो जाता है। यह परशिव की विचित्र परिपूर्णता है। इसी भाव से उपनिषद में भी कहा गया है :—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

विश्व कैसे उत्पन्न होता है—जैसे बीज से अंकुर उत्पन्न होता है, वैसे नहीं। जैसे माता से बच्चा जन्म लेता है, वैसे भी नहीं। जैसे दूध से दही बनता है, वैसे भी नहीं। उसके उत्पन्न होने का ढंग ही निराला है। शुद्ध स्फटिक स्वच्छ, अति स्वच्छ होता है। उसमें कोई भी स्थूल रंग नहीं होता। हां, अन्य वस्तुओं के सान्निध्य से उसमें विचित्र नील, पीत, रक्त आदि रंग दीख पड़ते हैं। उनके दीखने पर भी स्फटिक की स्वाभाविक स्वच्छता में कोई विकार नहीं आता। इसी प्रकार परशिव की शुद्ध चेतना के भीतर विश्व एक प्रतिबिम्ब की भांति झलकता है। उसके वहां झलकने पर भी परशिव की शुद्धि में कोई अंतर नहीं पड़ता। अंतर केवल इतना है कि स्फटिक में रंगों और आकारों की विचित्रता बाह्य कारणों के प्रभाव से झलकती है, अतः वह परतन्त्र है, जड़ है और अनीश्वर है। परन्तु परशिव में विश्वरूपता उसकी अपनी ही चेतना स्पन्दन से, उसकी परशिवता के विलास से, उसके परम स्वातन्त्र्य से, बिना किसी बाह्य कारण के प्रभाव के प्रतिबिम्बित होती है ; इस प्रतिबिम्ब क्रिया का आधार भी परशिव ही है, बिम्ब भी वही है और प्रतिबिम्ब भी वस्तुतः वही है। इसीलिए स्वतंत्र, चेतन, परमेश्वर आदि शब्दों द्वारा उसका उल्लेख किया जाता है।

मूल सृष्टि के आरम्भ में परशिव दो रूपों में प्रकट होता है। वह वस्तुतः शुद्ध और चेतन प्रकाश है। प्रकाश होने के कारण सदैव अपने स्वभाव से ही चमकता अर्थात् भासता रहता है। उसका भासना कभी विच्छिन्न नहीं होता। चेतना स्वभाव से उसे सदैव अपनी और

अपने भासने की प्रतीति भी होती ही रहती है। स्फटिक को अपने भासने की प्रतीति नहीं होती है। स्फटिक किसी चेतन व्यक्ति के अनु-ग्रह के विना भासता भी नहीं। अतः वह जड़ है, अप्रकाश है और प्रतीतिविहीन है। परशिव इसके विपरीत प्रकाशात्म है और प्रतीतिरूप भी है। इस प्रतीति को विमर्श कहते हैं। चेतना के दो पहलू यह प्रकाश और यह विमर्श होते हैं। दोनों ही परस्पर अभिन्न हैं। प्रकाश विमर्शात्मक है और विमर्श प्रकाशात्मक है। परन्तु परशिव की चेतना के स्पन्दन से, उसके स्वातन्त्र्य के विलास से, कभी प्रकाशांश प्रधानतया भासने लग जाता है और विमर्शांश उसकी कांति में छिप सा जाता है और कभी विमर्शांश ही प्रधानतया चमक उठता है और प्रकाशांश उसकी चमक में खोया हुआ सा रह जाता है। इस प्रकार इन दो पहलुओं के गुणप्रधान भाव से पहले दो तत्वों की सृष्टि हो जाती है। प्रकाशप्रधान तत्व को शिवतत्व और विमर्शप्रधान तत्व को शक्तितत्व कहते हैं। शिवतत्व परशिव की विश्वोत्तीर्णता का प्रतीक है और शक्तितत्व उसकी विश्वमयता का मूल है। इन दो तत्वों तक केवल आत्माभास ही होता है। अर्थात् केवल अपना आप या 'अहं' ही का प्रकाश और विमर्श होता है। 'इदं' अर्थात् विषयता का अभी कोई नाम भी नहीं।

परमेश्वरता के विलास से 'अहं' अंश के भीतर ही सामान्य 'इदं' अंश एक धीमे प्रतिविम्ब की तरह झलकने लग जाता है, परन्तु अहं की कांति के भीतर अभी खोया हुआ सा पड़ा रहता है। इस प्रकार के 'अहमिदम्' के आभास को सदाशिव तत्व कहते हैं। ज्यों ही परमे-श्वरता के विलास से, अर्थात् चेतना के स्पन्दन से, वही धीमा इदं अंश स्फुट हो जाता है और अपनी आभा से अहं अंश को छुपा सा देता है, त्यों ही चौथे तत्व की सृष्टि हो जाती है। इस इदं अंश की प्रधानता वाले तत्व का नाम ईश्वर तत्व है। अहं और इदं की समानरूपता की प्रकाशमानता को शुद्ध विद्या या सद्विद्या कहते हैं। इन तीनों तत्वों में दो दो अंशों का अवभास होता है। एक अहं अंश अर्थात् प्रमाता अंश और दूसरा इदं अंश अर्थात् प्रमेय अंश। अतः यहां भेद का आभास होता है। परन्तु "अहमिदम्"—मैं यह हूं या "इदमहम्"—यह मैं हूं, इस प्रकार की अभेदभाव की प्रतीति भी साथ रहती ही है। अतः ये तीन

तत्व भेदाभेद दशा के तत्व होते हैं। पहले दो तत्व अभेद दशा के तत्व होते हैं, क्योंकि वहां केवल अहं अर्थात् प्रमाता का ही प्रभास होता है, प्रमेय का नहीं।

पहले दो तत्वों में ठहरे हुए शाम्भव और शाक्त नाम के प्राणी होते हैं। उन्हें अकल प्राणी कहते हैं। उनके ऊपर क्रम से शिव और शक्ति का शासन रहता है। सदाशिव तत्व पर शासन करने वाले भगवान सदाशिव होते हैं और वहां के शास्य प्राणी मंत्रमहेश्वर कहलाते हैं। ईश्वर तत्व के शास्य प्राणी मंत्रेश्वर होते हैं और उनके शासक भगवान ईश्वर। भगवान ईश्वर अवतार रूप में ठहर कर निचले अर्थात् शुद्धविद्या नामक तत्व में भी प्रकट हो जाते हैं। वहां उनको अनंतनाथ या अधोरेश कहते हैं। विद्यातत्व में ठहरे हुए प्राणी मन्त्र या विद्येश्वर कहलाते हैं और उनके शासक भगवान अनन्तनाथ ही होते हैं। यहां तक कि सृष्टि स्वयं परशिव ही करते हैं। अगली सृष्टि भी वे ही करते हैं, परन्तु स्वयं नहीं करते ; उसे भगवान अनन्तनाथ आदि द्वारा करवाते हैं। तो भगवान अनन्तनाथ विद्या तत्व में ठहर कर माया तत्व की सृष्टि करते हैं और उस तत्व में क्षोभ अर्थात् हलचल उत्पन्न करके उसे ही पांच प्रकार के संकोचक तत्वों में प्रकट करते हैं। माया तत्व स्वयं एक संकोचक तत्व है। इसमें आकार प्रमाता अभेद भाव को सर्वथा भूल जाते हैं। प्रमेय को अपने से भिन्न समझने लग जाते हैं। पांच संकोचक तत्व हैं—कला, काल, राग, अशुद्ध विद्या और नियति—ईश्वर सर्वज्ञ और सवकर्ता हैं। परन्तु माया कला के रूप में प्रकट होकर उसे अल्पकर्ता वना देती है। उसकी क्रिया शक्ति में संकोच लाती है। ईश्वर यहां जीव रूप में प्रकट होकर कुछ ही कर सकता है, सब कुछ नहीं ; कुछ ही जान सकता है, सब कुछ नहीं। ज्ञानशक्ति के इस संकोच को अशुद्ध विद्या तत्व कहते हैं। काल तत्व की सृष्टि के साथ-साथ जीव अपने ऊपर मैं था, मैं हूं, मैं होऊंगा—इस प्रकार के कालिक संकोच को लाद लेता है और अपने में प्रतिबिम्बित विषयों पर भी कालिक संकोच का आराप करता है कि अमुक वस्तु थी, अमुक है और अमुक होगी। आत्मा वस्तुतः अभिन्न है और कर्मरहित है। परन्तु कालतत्व से सकुचित होने पर अपने को कर्मरूपता का पात्र वना देती

है। वह कर्मरूपता ही काल-कलना कहलाता है। जीव के व्यवहारों का कोई नियत कर्म नहीं है। परन्तु सूर्योदय, सूर्यास्त, राशिसंक्रम, ऋतु परिवर्तन इत्यादि प्राकृतिक व्यवहारों का कर्म नियत कर्म है। इस नियत कर्म के परिमाण से जोव अपने अनियत कर्म वाले व्यवहारों को मापने लग जाता है और यही काल कलना कहलाती है। जीव किसी ही वस्तु के जानने और करने में दिलचस्पी रखता है, सभी में नहीं। यह उसका चौथे प्रकार का संकोच राग तत्व कहलाता है। यह कला और विद्या को और भी संकुचित कर देता है। पांचवें प्रकार का संकोच कहलाता है—नियति। जीव जो कुछ कर सकता है, नियति के नियमों में बंधा रहकर ही कर सकता है। यह नियति कला विद्या और राग तीनों को और भी संकुचित कर देती है। इस प्रकार के इन पांच और माया के द्वारा संकोच को प्राप्त हुआ प्रमाता जीव कहलाता है। जीव को ही पुरुष तत्व या पुरस्तत्व कहते हैं और पुरुषतत्व के सामान्य प्रमेय अर्थात् विषय तत्व को प्रकृति तत्व कहते हैं। इस प्रकृति के तीन गुण होते हैं—सत्व गुण, रजोगुण और तमोगुण। सत्वगुण हल्केपन को, सुखमयता को और प्रकाशमयता को कहते हैं। रजोगुण प्रवृत्तिशीलता का, दुखमयता का, क्लेशरूपता का नाम है। तमोगुण भारीपन को, अंधकार को, अर्थात् अज्ञान को, मोहमयता को, आलस्य को, ढीलेपन को कहा जाता है। ये गुण वस्तुतः पुरुष के होते हैं और जब वह अपने प्रमेय अर्थात् प्रकृति को इन गुणों के ही दृष्टिकोण से देखने लगता है तो प्रकृति भी त्रिगुणा बन कर ही प्रकट हो जाती है। पहले पांच तत्वों की सृष्टि स्वयं परशिव ही करता है, परन्तु छः संकोच तत्वों और इन दो तत्वों की सृष्टि भगवान अनन्तनाथ करते हैं।

भगवान ईश्वर गुण तत्व में भी अवतार के रूप में प्रकट हो जाते हैं। वहां उनका नाम भगवान श्रीकण्ठनाथ है। आगे की सृष्टि इनके ही अधिकार में रहती है। वे ही प्रकृति तत्व में परिणाम लाकर तीन अन्तःकरण तत्वों अर्थात् मन, बुद्धि और अहंकार की सृष्टि करते हैं। वे ही अहंकार में पुनः परिणाम लाकर पांच ज्ञानेन्द्रियों और पांच कर्मेन्द्रियों को उत्पन्न करते हैं और अहंकार में से ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध नामक पाच सूक्ष्म विषयों पर पांच महाभूतों अर्थात्

आकाश, वायुपरमाणु, अग्निपरमाणु, जलपरमाणु और पृथ्वीपरमाणु—इन पांच तत्वों की भी सृष्टि करते हैं। आगे उन परमाणुओं से भुवनों, वस्तुओं और शरीरों की सृष्टि का काम ब्रह्मा जी और कश्यप आदि प्रजापति करते हैं। रुद्रों की सृष्टि संकोच तत्वों की सृष्टि से लेकर भूततत्वों की सृष्टि तक लगातार चलती ही रहती है। इसीलिए शत-रुद्रिय आदि शास्त्रों में असंख्य रुद्रों की सत्ता का वर्णन आया है। ब्रह्मा जी और भगवान विष्णु की सृष्टि प्रकृति और पुरुष की सृष्टि के साथ साथ होती है। भगवान ईश्वर एक और अवतार के रूप में सूक्ष्म भूतों की सृष्टि में प्रकट हुए हैं। इनको उस अवतार के रूप में भगवान स्व-च्छंदनाथ कहते हैं। इन्हीं स्वच्छंदनाथ ने शैव आगमों का उपदेश किया है। शिवपुराण में, जिसमें, भगवान शिव का चरित गाया गया है वह स्वच्छंदनाथ ही है। इस स्वच्छंदनाथ का दूसरा नाम श्री उमापति नाथ भी है। इनका ही विवाह भगवती उमा अर्थात पार्वती से हुआ है। सभी देवता आदि सूक्ष्म भूतों की सृष्टि में रहते हैं। हम लोग स्थूल सृष्टि के प्राणी हैं।

इस प्रकार के सृष्टिक्रम का वर्णन शैव आगमों में आता है। उन आगमों के निचोड़ को श्री अभिनव गुप्ताचार्य जैसे महागुरुओं ने तंत्रसार. तंत्रलोक आदि शास्त्रों में सरलभाषा में बड़े ही सुन्दर ढंग से दे दिया है। उसीके आधार पर यह लेख लिखा गया है।

इस सृष्टि के भीतर शैव दर्शन की दृष्टि से असंख्य ब्रह्मांड विद्य-मान हैं। प्रत्येक ब्रह्मांड में अनेकों भवन अर्थात् लोक हैं। प्रत्येक लोक में अनेक प्रकार के प्रमाता अर्थात् जीव, प्रमाण अर्थात् ज्ञान के साधन और प्रमेय अर्थात् ज्ञान के विषय हैं। एक-एक ब्रह्मांड के संचालक पांच-पांच कारण हैं। उनमें ब्रह्मा परमाणु से लोकों, शरीरों और विषयों की सृष्टि करते रहते हैं। विष्णु सृष्टि पदार्थों को टिकाए रखते हैं। रुद्र कुछ काल तक टिकी हुई सृष्टि का संहार करते हैं। कार्यवस्तु का कारण वस्तु में लय करना संहार कहलाता है। तो रुद्र सारी ठोस सृष्टि को पिघला कर द्रव्य रूप में अर्थात् जल तत्व में लीन करते हैं। आगे पिघली हुई सृष्टि अग्निज्वालाओं में विलीन हो जाती है। वे ज्वालाएं वाष्प रूप में परिणत हो जाती हैं। वाष्पसृष्टि आकाश में विलीन हो जाती

है और आकाश अहंकार में। इस प्रकार से सभी उत्तर-उत्तर तत्त्व पूर्व-पूर्व तत्व में विलीन होते रहते हैं। यह संहार का काम प्रलय के समय रुद्रों के द्वारा किया जाता है। इस प्रकार भगवान रुद्र अनेक रूपों में प्रकट होकर उन तत्वों का संहार करते रहते हैं। इस सृष्टि के भीतर परशिव जीव के रूप में प्रकट होते ही अपने परशिव स्वरूप को भूल जाता है। यह स्वरूप का भूल जाना पिधान कहलाता है। तो पिधान का कार्य चलाने वाले कारण भगवान ईश्वर माने गए हैं। जीव अनन्त जन्मों में अनन्त प्रकार की क्रीड़ाओं का अभिनय करके अंत में सद्गुरु के अनुग्रह से उत्तम योग की दिशा पाकर, उसके अभ्यास से अपने भूले हुए परशिवतात्मक स्वभाव को पुनः पहचान लेता है। उसे पहचान कर वह पुनर्जन्म के बन्धन से मुक्त होकर पहचान ली हुई अपनी परमेश्वरता के आनन्द में सदा के लिए विभोर हो जाता है। इस स्वरूप की पहचान कराने के कार्य को अनुग्रह कहते हैं। अनुग्रह कृत्य का संचालन करने वाले भगवान सदाशिव माने गए हैं। दाक्षिणात्य शैवों ने भी इन पांच वृत्तियों के सिद्धांत का उपदेश किया है। आदि शंकराचार्य ने अपनी सौंदर्य लहरी में कहा है :—

जगत् सूते धाता हरिखति रुद्रः क्षमयते
तिरस्कुर्वन्नेतत् स्वमपि व पुरीशस्तिरयति।
सदापूर्वः सर्वं तादिदमनुगृह्णाति च शिव—
स्तवाज्ञामालम्ब्य क्षणचलितयोर्भ्रू कतिलयोः। (सौं० ल० २४)

दक्षिण के ही एक और सिद्ध श्री धर्माचार्य ने भी अपनी पञ्चस्तवी में ऐसे ही कहा है :—

विरिञ्च्याख्या मातः सृजसि हरि संज्ञा त्वमवसि
त्रिलोकीं रुद्राख्या हरसि पिदधासीश्वर—दक्षा।
भवन्तो सादाख्या शिवयसि च पाशौघदलिनी
त्वमेवैकाऽनेका भवसि कृतिभेदैर्गिरिसुते। (पं. स्त. ५-२३)

यह जो स्थूल जगत हमें दीखता है यह परमेश्वरीय सृष्टि का एक बहुत छोटा सा अंश है। इससे अनेकों गुणा बड़ी सूक्ष्म सृष्टि होती है। स्थूल सृष्टि में सारा व्यवहार स्थूल शरीरों द्वारा ही किया जा

सकता है, परन्तु सूक्ष्म सृष्टि में स्थूल शरीरों की कोई आवश्यकता नहीं होती। उस सृष्टि के जीवों के पास सूक्ष्म शरीर होते हैं। वे शरीर पंचमहाभूतों के सूक्ष्म रूपों से वने होते हैं। उन शरीरों में सभी इन्द्रिय शक्तियां, सभी अंतःकरण शक्तियां और प्राणशक्तियां काम करती हैं। वे जीव ठीक उसी प्रकार से काम करते हैं जिस प्रकार इस स्थूल सृष्टि के प्राणी स्वप्नव्यवहार में काम करते हैं। स्वप्न में काम, क्रोध आदि, आहार, निद्रा आदि, रागद्वेष आदि और इस प्रकार के अन्य सभी व्यवहार चलते हैं और जागृत अवस्था की अपेक्षा सुकरता से चलते हैं। अंतर इतना अवश्य है कि हम जागृत सृष्टि के स्थूल प्राणी हैं। हम वस्तुतः स्वप्नसृष्टि के प्राणी नहीं। हमारा स्वप्न व्यवहार किसी विशेष कारण से होता रहता है। अतः वह हमारा स्वाभाविक व्यवहार नहीं। इसीलिए वह अस्थिर होता है, प्रत्येक प्राणी का पृथक पृथक अपना ही होता है। और उससे चिरस्थायी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता परन्तु जो प्राणी स्वभावतः स्वप्न सृष्टि के प्राणी हैं, उनकी वह स्वप्नसृष्टि इस हमारी जागृत सृष्टि की अपेक्षा अधिक समय तक ठहरने वाली होती है। यह सृष्टि अनेकों बार उत्पन्न भी होती है और विलीन भी होती है। परन्तु वह सतत गति से स्थिर रहती है। हमारे अनेकों कल्पों के अनन्तर ही उस सूक्ष्म सृष्टि का संहार होता है अतः हमारी अपेक्षा वह सृष्टि अमर है। सभी प्रकार के देवता और ब्रह्मा, विष्णु आदि तक इसी सूक्ष्म सृष्टि के प्राणी होते हैं। भगवान उमापतिनाथ (पुराणों के शिव) और उनकी पत्नी भगवती पार्वती भी इसी सृष्टि के अधिकारी हैं। इस संसार में जितने भी देवों, देवियों, भैरवों, शक्तियों आदि की उपासना की जाती है वह सारे ही प्रायः इसी स्वप्नसृष्टि के अधिकारी हुआ करते हैं। छोटे से छोटे क्षुद्र जंतु से लेकर बड़े से बड़े देवता तक के साधारण प्राणी चाहे स्थूल सृष्टि के हों चाहे सूक्ष्म सृष्टि के, एक ही वर्ग में गिने गए हैं। उस वर्ग को 'सकलों' का वर्ग कहते हैं। ये सभी प्राणी अपनी परमशिवता को भूल कर किसी परिमित वस्तु को अपना आप समझते हैं। अतः परिमितता के अभिमान के भागी होते हैं। इन सभी में भेद दृष्टि रहती है। अपने को एक दूसरे से, परमेश्वर से और वेद्यविषयों से भिन्न समझते हैं। यह भेद दृष्टि का दोष ही इनका

मायीय मल कहलाता है। प्रायः सभी कर्म संस्कार की और क्षुद्र कर्तव्य के अभिमान की वासना के कारण कर्म बन्धन में फंसे रहते हैं। इस प्रकार तीनों मलों से घेरे हुए स्थूल जीव तथा सूक्ष्मजीव सांसारिक प्राणी हैं बद्ध प्राणी हैं और जन्ममरण के भागी जीव हैं।

इस सूक्ष्म सृष्टि से उत्कृष्ट एक सूक्ष्मतर सृष्टि होती है। उस सृष्टि के प्राणी सभी सुख, दुख, क्षुधा, पिपासा, राग, द्वेष, भोग, मोक्ष आदि भावों से मुक्त होकर आकाशवत् परमशांत भाव में ठहरे रहते हैं। एक अनुपम और अविच्छिन्न शांति का वे अनुभव करते रहते हैं। यह सृष्टि सुषुप्तिदशा की सृष्टि होती है। इस सृष्टि के प्राणी "प्रलयाकल" प्राणी कहलाते हैं। वे तब तक इस परमशांति की ही दशा में टिके रहते हैं, जब तक सारे अंतकरण तत्व मूल प्रकृति में विलीन हो जाते हैं। उस अवांतर प्रलय के अनंतर जब भगवान श्री कण्ठनाथ प्रकृति में पुनः क्षोभ उत्पन्न करके सूक्ष्म तत्वों की पुनः सृष्टि करते हैं, तो ये सभी सुषुप्त प्राणी मानो प्रगाढ़ निद्रा से जाग उठते हैं और उस सुषुप्ति की अवस्था की प्राप्ति से पूर्व जो वासनाएं उनके अंतःकरण में प्रभाव जमाए हुए थीं, वह भी पुनः जाग कर इनको पुनः जन्म-मरण की संसृति की ओर खींच ले जाती हैं। इस प्रकार युगों तक एक प्रकार की मुक्ति का अनुभव कर के भी यह प्राणी पुनः संसार में फंस जाते हैं। शैव दर्शन सिद्धांतों के अनुसार, नया-वैशेषिक का अपवर्ग, सांख्ययोग का कैवल्य और बौद्धवाद का निर्वाण इसी प्रलयाकलों की मुक्ति की भिन्न-भिन्न अवस्थाएं हैं।

वेदांत के ब्रह्म निर्वाण नामक मोक्ष के भागी प्राणी जिस दशा को प्राप्त करते हैं, उसमें तुर्यदशा का थोड़ा सा प्रकाश होने लग जाता है, परन्तु स्वरूप संकोच का अंश उनमें रह जाता है। अतः उन्हें अपनी परमेश्वरता की साक्षात अनुभूति नहीं होती। उस अनुभूति से वञ्चित रहकर वह ईश्वरता को माया की उपाधि से ही प्रतीत होने वाली मिथ्या वस्तु समझते रहते हैं। उन्हें "विज्ञानाकल" प्राणी कहा जाता है। विज्ञानाकलों की सृष्टि से भी उत्कृष्ट सृष्टि के प्राणी "विद्येश्वर" या "मन्त्र" कहलाते हैं। उनका उल्लेख ऊपर विद्या तत्व की सृष्टि के साथ किया गया है। यह तुर्यसृष्टि की माध्यम दशा के प्राणी हैं। इन में भेद

दृष्टि का दोष रह जाता है। अतः यह उत्कृष्ट तुर्यसृष्टि से नीचे ही रह जाते हैं। इनके ही अधिष्ठाता भगवान अनन्तनाथ हैं। इनसे ऊपर ईश्वर तत्व के "मंत्रेश्वरों" और सदाशिवतत्व के "मंत्रमहेश्वरों" का स्थान है। यह मायीयमल से भी मुक्त होते हैं, परन्तु भेदाभेद दृष्टि का सूक्ष्मतर मल या मल के अंकुर भाव की अवस्था इन में अवश्य रहती है, अतः यह परिपूर्ण अभेद से एक सीढ़ी नीचे ही ठहरते हैं। परिपूर्ण और असीम अभेदमयी परमेश्वरता का साक्षात् अनुभव करने वाले प्राणी केवल "अकल" प्राणी हो होते हैं।

स्थूल सृष्टि में भौतिक शरीर होते हैं। सूक्ष्म सृष्टि में मनोमय शरीर और भावनामय कार्य होते हैं। सूक्ष्मतर अर्थात् सुषुप्त भाव की सृष्टि में केवल स्वरूप संकोच से युक्त चेतना ही काम करती है। विज्ञानाकल सृष्टि में संकोच और शिथिल हो जाता है, परन्तु स्वभावभूत ईश्वरता की अनुभूति के अभाव के कारण संकोच पूरी तरह से हटता नहीं है। विद्येश्वरों की सृष्टि में अपनी संविदात्मकता के प्रकाश के होते हुए भी भेद दृष्टि का मल रहता है। परन्तु यहां से लेकर अकलों तक की सृष्टि शुद्ध सृष्टि ही कहलाती है। इस शुद्ध सृष्टि के प्राणी प्रायः ऊपर ऊपर ही जाते रहते हैं, नीचे प्रायः नहीं जाते। प्रलयकाल और सकल प्रायः संसार में ही आते रहते हैं। विज्ञानाकल इनकी अपेक्षा शुद्ध हैं और ऊपर की सृष्टियों की अपेक्षा अशुद्ध ही होते हैं। उनमें से कई नीचे भी आते हैं और कोई ऊपर भी जाते हैं। इस प्रकार पारमेश्वरी सृष्टि में अनन्त प्रकार का वैचित्र्य होता है। उस वैचित्र्य का थोड़ा सा दिग्दर्शन हमें शैव आगमों में मिलता है और उसकी साक्षात् अनुभूति शैवयुग के अभ्यास से प्राप्त होती है। विशेष रूप से शैव दर्शन के शाम्भव उपाय के अभ्यास से यह रहस्य खुल पाते हैं।

कश्मीर में बुद्धमत का प्रभाव

—ज० न० गनहार

कश्मीर को बुद्धमत के इतिहास में एक शानदार जगह प्राप्त है। पश्चिमी हिमालय की स्नेहिल गोदी में स्थित यह घाटी शताब्दियों तक बुद्धमत का क्रीड़ास्थल रही है। इस दौरान कश्मीर ने न केवल यह कि इस धर्म की प्रगति और विकास में मुख्य भूमिका अदा की, बल्कि यहीं से इसका प्रकाश मध्य एशिया, चीन, तिब्वत बल्कि दूरवर्ती मंगोलिया और दूरदराज़ इंडोनेशिया तक फैल गया।

लेकिन स्वयं बुद्धमत कश्मीर में कब प्रविष्ट हुआ इसके बारे में विश्वस्त रूपेण कुछ नहीं मालूम। संभव है कि कुछ बौद्ध भिक्षु महात्मा बुद्ध के निर्वाण प्राप्त करने के कुछ ही समय बाद संयोग से कश्मीर पहुंच गये हों, शायद उन्होंने घाटी का रास्ता अपने गुरु के उस आदेश के पालन में लिया हो, जिसमें उन्होंने कहा था कि मेरे धर्म को संसार के दूरदराज़ किनारों तक पहुंचा दो। पर इस संबंध में कोई प्रामाणिक साक्षी नहीं मिली है। केवल एक परम्परा मौजूद है जिसके अनुसार उन्होंने भविष्यवाणी की थी कि कश्मीर में बुद्धमत उनकी मृत्यु के बाद फैलेगा और यह क्षेत्र बुद्धमत के घर के रूप में प्रसिद्ध हो जाएगा।

कश्मीर में बुद्धमत को परिचित कराने का श्रेय आमतौर पर महाराज अशोक को दिया जाता है, पर कल्हण की राजतरंगिणी के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस सुनाम सम्राट के ज़माने से पूर्व भी कश्मीर में बुद्धमत की किरणें पहुंच गईं थीं। यहां इस नव

आस्था का पहला संरक्षक सुरेन्द्र था, जिस का शासनकाल अशोक से बहुत पहले का है। इस स्थानीय राजा ने कश्मीर में बुद्धमत का पहला विहार श्रीनगर की एक निकटवर्ती बस्ती में तामीर कराया। इसके इलावा उसने भिक्षुओं की तरह ज़िंदगी बसर की और उम्र भर कुंआरा ही रहा। कल्हण ने उस समय का उल्लेख करते हुए उसे 'अनमोल गुणों का स्वामी' और 'पापाचार से कोसों दूर' कह कर पुकारा है।

यद्यपि इस तथ्य से इन्कार सम्भव नहीं कि बुद्धमत महाराज अशोक से पहले कश्मीर पहुंच चुका था, यह तथ्य भी दिन-सा उज्ज्वल है कि इस धर्म को सर्वस्वीकृति अशोक के समय में ही प्राप्त हुई। इस का पहला कारण तो यह था कि उस ने बौद्ध भिक्षुओं की एक पूरी सेना ही कश्मीर भेज दी। इस बात की भी साक्षी मौजूद है कि अशोक स्वयं भी कश्मीर आए। कल्हण खुल कर उन बौद्ध और शैव मंदिरों का जिक्र करता है जिनकी नींव अशोक ने रखी। बौद्धों के निर्माण कश्मीर की उस राजधानी में खड़े किए गए, जिनकी नींव अशोक ने रखी। उसका नाम श्रीनगरी रखा गया। यह शहर वर्तमान श्रीनगर के निकट स्थित पन्द्रेठन के स्थान पर बनाया गया था। इसके अतिरिक्त अशोक के निर्माण वितस्तव (व्यथवोतुर) अवासिकालिन (हुलकालेतर) में बनाए गए, जो श्रीनगर से क्रमशः पचास और अठारह मील की दूरी पर स्थित हैं। वेरीनाग के निकट वितस्तात्र के स्थान पर उसने जो विहार बनवाया उसकी ऊंचाई के बारे में बताया जाता है कि आंख उसकी समीक्षा करने में सफल नहीं हुई थी।

सातवीं शती ईस्वी में जब ह्यूनत्सांग कश्मीर आया तो उसने अपने निवास के समय में यहां अशोक के बनाये हुए चार भव्य स्तूप देखे जिन में बुद्ध के शरीर के पवित्र अवशेष सुरक्षित थे। इस चीनी यात्री के कथन के अनुसार अशोक ने यहां पांच सौ संघाराम निर्माण कराए, जिन में बौद्ध प्रचारक रहते थे। बाद में सम्राट ने सारी घाटी संघ अर्थात् भिक्षुओं की बिरादरी को भेंट के रूप में दी।

अशोक के उत्तराधिकारियों के समय में कश्मीर में बुद्धमत के फैलाव में थोड़ी सी निर्बलता आ गई लेकिन तीन सदियों के बाद कुशान

राजाओं के राज्यकाल में यह घाटी उत्तरभारत में बौद्ध ज्ञान और विद्या के एक बहुत ही प्रमुख केंद्र के रूप में उभर कर सामने आ गई। कनिष्क के समय बौद्धों की चौथी सभा यहीं पर हुई और उसके उत्तराधिकारियों के समय में घाटी की सारी जनसंख्या बुद्धमत पर ईमान लाई।

कनिष्क ने जिस बौद्ध सभा का आयोजन कश्मीर में किया उसके कारण सारे भारत से महान बौद्ध विद्वान और प्रचारक कश्मीर चले आए। तिब्वती ऐतिहासिक तारानाथ का कहना है कि उस सभा में पांच सौ अर्हत, पांच सौ बोधिसत्व और पांच सौ पंडित शामिल हुए।

ह्यूनत्सांग और तारानाथ दोनों इस बात पर सहमत हैं कि यह सभा बौद्ध पार्श्व के कहने पर आयोजित की गई, जो उस समय का एक मान्य बौद्ध प्रचारक था। इस सभा के आयोजन का सब से बड़ा उद्देश्य यह था कि विभिन्न संप्रदायों की जो नित नयी व्याख्याएं चला दी गई थीं, उनकी छानबीन के बाद एक प्रामाणिक विश्वास या मत की स्थापना की जाए। इसके अतिरिक्त विनय, सूत्र और अभिधम्म की वस्तु को नया रूप दिया जाए। ह्यूनत्सांग के कहने के अनुसार, सभा ने धर्म-ग्रन्थों की वास्तविक विषय वस्तु (या पाठ) तैयार कराई और इन की व्याख्या भी तैयार कराई। मूल पाठ की पुस्तकों को उपदेश शास्त्र का नाम दिया गया। पर उन की व्याख्या तथा टीकाओं पर आधारित पुस्तकें विभशास्त्र कहकर पुकारी गई। इन टीकाओं को बाद में महाकवि अश्वघोष ने साहित्यिक रूप दिया। इस महान कवि को इसी उद्देश्य के लिए कश्मीर बुलाया गया था।

कश्मीर की इस सभा में तैयार टीकाओं को सारे बौद्ध जगत में बहुत ऊपर और सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। ह्यूनत्सांग के मतानुसार इन टीकाओं को देखकर अनुमान होता है कि इन्हें कितने परिश्रम, अध्ययन और शोध के बाद निष्पादित किया गया है। इसके इलावा यह बात भी सामने आ जाती है कि निर्माताओं ने बौद्ध धर्म के धार्मिक तथा पारस्परिक दृष्टिकोण का किस प्रौढ़ दृष्टि से अंकन किया है। इसके इलावा इनका अध्ययन ब्राह्मण-विद्या और भारतीय

अलंकार शास्त्र से गहरे परिचय का पता देता है ।

चीनी पर्यटक का कहना है कि सभा के आयोजन के समय कनिष्क स्वयं कश्मीर में मौजूद था और जब यह सभा समाप्त हुई तो उसने अपने राज्य के इस भाग को संघ की भेंट किया ।

कश्मीर का स्थानीय इतिहासकार कल्हण इस सभा का तो कोई उल्लेख नहीं करता पर वह भी उस जबर्दस्त प्रभाव का समर्थन करता है जो कुशान राजाओं सुह्क जुस्क और कनिष्क के समय बुद्धमत को कश्मीर में प्राप्त था। वह हुलकालेतर में विभिन्न प्रकार के बौद्ध भवनों के विवरण पेश करता है, जो इन राजाओं ने निर्मित किए । वह इस संबंध में इन राजाओं के बनाए हुए चार शहरों का विशेष उल्लेख करता है । इनमें से तीन नगरों—सुह्कपुर, ज़ुस्कपुर और कनिष्कपुर की स्थिति अब भी पहचानी जा सकती है । ये गांव जो उशकर, ज़कुर और कानिसपुर के नाम से प्रसिद्ध हैं , श्रीनगर के उत्तर और उत्तर-पश्चिम में स्थित हैं ।

कुशान शासक कश्मीर में बुद्धमत के स्वर्णकाल की हैसियत रखता था । उनके समय और उन के शीघ्र बाद आने वाले अभिमन्यु के समय में इस धर्म को कश्मीर में इतना बड़ा सम्मान प्राप्त था कि कल्हण के अनुसार—"कश्मीर को उस समय मुक्त भिक्षुओं के कारण प्रकाश प्राप्त था ।" इन महापुरुषों में सब से महान बौद्ध चिंतक नागार्जुन थे, जिसे कल्हण "धरती का एक मात्र स्वामी" कह कर पुकारता है। उसके नेतृत्व में बौद्धों ने शास्त्रार्थों में ब्राह्मणों पर निर्णायक विजय प्राप्त की। नया धर्म साधारण तथा असाधारण-लोकप्रिय हुआ कि पारम्परिक रीतियां विस्मृत कथाएं बन के रह गईं। मगर यह स्थिति ज़्यादा देर न रह सकी । अभिमन्यु के समय में कई निरंतर और कठिन जाड़ों की वजह से घाटी में स्थित बौद्धप्रचारकों की एक बड़ी संख्या या तो मृत्यु का ग्रास बन गई या वापस चले जाने पर मजबूर हो गई। उनकी अनुपस्थिति का लाभ उठाकर ब्राह्मणों ने पूजा की पारंपरिक रीति चलाई और नागदेवताओं के नाम पर फिर बलियां चढ़ाई जाने लगीं ।

अभिमन्यु के वाद लंबे अरसे तक कश्मीर पर शैव राजा राज करते रहे, लेकिन कुछ अपवादों को छोड़ कर सव के सव बुद्धमत के वारे में उदार थे और उनके समय में भी बुद्धमत घाटी में हिंदुमत के साथ साथ विकसित होता रहा। सच तो यह है कि इसी ज़माने में कुमारजीव और वसुबंधु ने घाटी का दौरा किया और यहां अपना अध्ययन जारी रखा। इस के इलावा इसी ज़माने में वौद्ध प्रचारकों के वड़े समूह, जिन में बुद्धयास, विमलाक्ष गुणवर्मन जैसे लोग भी शामिल थे, मध्य एशिया, चीन, जावा वगैरह चले गए ताकि बुद्धमत के फैलाव मे भाग ले सकें। खुद कश्मीर में हिंदुओं ने भी बुद्ध की एक अवतार के रूप में पूजा करनी शुरू की। वाकी उत्तर-पश्चिम भारत की तरह कश्मीर में भी बुद्धमत को हूणराज हरकल के हाथों वड़ा नुक्सान उठाना पड़ा। यह राजा छठी शती ईस्वी के आरंभ में हो गुज़रा है, लेकिन जव मेघवाहन कश्मीर का राजा वना तो बुद्धमत ने फिर खिलना शुरू किया।

मेघवाहन एक कट्टर वौद्ध था। उसने पशुहत्या, पक्षीहत्या और मछली पकड़ने पर पाबंदी लगा दी, लेकिन एक सच्चे वौद्ध की तरह उसने उन लोगों की जीविका का अन्य प्रबंध किया जिन की ज़िंदगी इन पाबंदियों से खत्म हो सकती थी। कसाइयों और इस प्रकार के दूसरे लोगों की या तो आर्थिक सहायता की गई या उन्हें दूसरे पेशों में जगह दी गई। इस राजा के समय में कश्मीर में बौद्ध धर्म से संवद्ध निर्माण का एक नया क्रम शुरू हो गया। राजा ने स्वयं एक नया नगर वसाया और कई विहारों का निर्माण कराया। उसकी पांच महारानियों ने भी अपने नाम से संवद्ध विहार निर्माण कराए। इन में सव से ज़्यादा प्रसिद्ध अमृतभवन था जो श्रीनगर के उत्तर में विचारनाग के निकट स्थित था। यह विहार राजा की चहेती रानी अमृत प्रभा ने वनवाया था जो असम की एक राजकुमारी थी और इसमें मैदानी इलाकों से आने वाले भिक्षुओं के निवास का प्रबंध था। मेघवाहन के बाद हमें कश्मीर का कोई ऐसा राजा नहीं मिलता जो स्वयं बौद्ध धर्म का अनुयायी रहा हो, लेकिन इसके बावजूद बड़े व्यक्तित्व न सिर्फ इस धर्म को संरक्षण देते रहे, वल्कि उसका अनुसरण भी करते रहे। यह बात इस तथ्य से

स्पष्ट हो जाती है कि इसके वाद भी बुद्धमत संबंधी वहुत भवन खड़े हो गए। इन निर्माणों में सव से ज़्यादा प्रसिद्ध जोन्द्र विहार था जो प्रवरसेन (छटीशती का अन्त) के मामा ने निर्माण कराया था। ह्यूनत्सांग ने इसी विहार में वास किया था। यह प्राप्त अवशेषों के अनुसार उसी इलाके में स्थित था जहां आज कल श्रीनगर की जामा मस्जिद खड़ी है। कारकूट राजाओं के समय, जो 600 ई० से 855 ई० तक सत्तरूढ़ रहे, बुद्धमत को फिर विकास प्राप्त हुआ। यद्यपि ये वादशाह व्यक्तिगत रूप में इस धर्म के हामी नहीं थे, लेकिन उन्होंने वड़े उदार मन से इस को संरक्षण दिया।

आमतौर पर ह्यूनत्सांग के कश्मीर में आने का समय कारकूट शासक दुर्लभ वर्धन के राज्यकाल में निश्चित होता है। इस चीनी यात्री के साथ उसने जो भव्य वर्ताव किया उससे अनमान होता है कि उसने भी इस धर्म को संरक्षण देने में कोई कमी नहीं की। इस राजा ने ह्यूनत्सांग का व्यक्तिगत तौर पर वडा सरगर्म स्वागत किया और उसे कश्मीर स्थित विख्यात वौद्ध विद्वानों से परिचित कराया। इसके अलावा उसे अपने महल में जगह दी और उसके साथ वीस लिपिकर्ता नियुक्त किये, जिनका काम यह था कि वे यात्री की रुचि के हस्तलेखों की प्रतिलिपि करें। इसके इलावा उसके व्यक्तिगत आराम व सुविधा के पांच सेवक भी रखे गए थे। दुर्लभवर्धन के सत्ताकाल की समाप्ति के समय एक और विख्यात वौद्ध विद्वान कश्मीर को यात्रा के लिए आया। वह तिब्वत के पहले महान शासक सर्बन त्वसां स्गाम्गो का मंत्री थोन्मी संनोट था। वह यहां वर्षों रहा और वापसी पर उसने अपनी भाषा के लिए ऐसी लिपि तैयार की जो उस समय कश्मीर म प्रचलित संस्कृत लिपि के वहुत निकट थी। उस समय कश्मीर एक ऐसा शक्तिमान राज्य था जो तक्षशिला (ज़िला रावलपिंडी) उसारा (हज़ारा) सिंहपुर (कोहिस्तान का इलाका) के इलावा राजौरी और पुंछ से राजस्व लेता था। बुद्धमत यद्यपि इन सव राजस्वदायक इलाकों में प्रचलित था, लेकिन उस पर अवनति की दशा छाने लगी थी। लेकिन खुद कश्मीर में उस समय एक सौ से अधिक वौद्धशालाएं थीं, जिनमें अशोक के चार उपर्युक्त स्तूप भी शामिल थे। इन में पांच हज़ार के

करीब बौद्ध भिक्षु स्थित थे। दुर्लभवर्धन के पोते ललितादित्य (699 ई०—736 ई०) के समय में बौद्धधर्म की और उन्नति हुई।

कश्मीर की भूमि से पैदा होने वाला यह महानतम शासक जबर्दस्त बहादुर और निर्माण कला का बड़ा रसिया था। उसके सैनिक कारनामों की कथाएं पूर्व में बंगाल से लेकर पश्चिम में सौराष्ट्र तक, दक्षिण में दक्कन और उत्तर में मध्यएशिया के मरुस्थलों तक फैली हुई हैं। विजित क्षेत्रों से ललितादित्य ने धन के साथ साथ योग्यता और शिल्प रखने वाले लोग भी कश्मीर लाए। इन लोगों को ऐसे कामों पर लगा दिया जिससे इनके प्यारे देश की शान दोवाला हो जाए। कश्मीर में इतिहास के उदय से लेकर अब तक निर्मित कई काफी शानदार भवन उसने अपनी राजधानी परिहासपुर में निर्मित किये। यह नगर शहर श्रीनगर से कोई बारह मील उत्तर में उस जगह बनाया गया था, जहां वितस्ता के साथ उसकी सहायक नदी सिंध का संगम होता है। इन भवनों में एक महान विहार और एक चैत्य भी शामिल थे। चैत्य में महात्मा बुद्ध की एक विशालकाय मूर्ति भी रखी गई थी, जो बादशाह मगध से अपने साथ लाये थे। बाद में उसकी जगह बुद्ध की एक ताम्र-मूर्ति ने ली और पूर्वी भारत से लाई हुई मूर्ति उसने अपने प्रधान मंत्री कंकण को दी ताकि यह उसे अपने विहार में रख ले, जिसमें बुद्ध की बहुत सी मूल्यवान मूर्तियां जमा की गई थीं। कुछ और मंत्रियों और दरबारियों ने बुद्धमत से संबद्ध भवन बनवाए। कारकूट राजाओं के समय बुद्धमत ने जितनी उन्नति की उसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि ललितादित्य के समय के अन्त में एक चीनी पर्यटक ओकाङ ने घाटी में मौजूद बौद्धशालाओं की तादाद तीन सौ लिखी, हालांकि ह्यूनत्सांग के समय इन की संख्या सौ से कहीं ऊपर थी।

कार्कूट राजाओं के बाद घाटी में बुद्धमत का ज़ोर भी कम होना शुरू हुआ लेकिन फिर भी कश्मीर कुछ और शतियों तक बौद्ध विद्या और सभ्यता का केंद्र बना रहा। इस दौरान पड़ोसी देशों खासकर तिब्बत से बड़े-बड़े विद्वान यहां आते रहे और कश्मीर से शिक्षक तथा अनुवादक तिब्बत जाते रहे। कश्मीर के कुछ भिक्षु विद्वान जो

दक्षिण की ओर चले गए, उन्हें नालंदा और विक्रमशिला विश्वविद्यालयों में बड़े माननीय पदों पर नियुक्त किया गया।

एक अलग धर्म के रूप में बुद्धमत का चरम विकास मुसलमानों के सत्ताकाल के आरंभ यानी 1339 ई० से पहले ही हो चुका था, लेकिन घाटी के आरंभिक मुसलमान राजाओं के उल्लेखों में बुद्धमत का उल्लेख इधर उधर मिलता है। जैन उल-आब-दीन (1420 ई०) का प्रधानमंत्री एक बौद्ध तिलकाचार्य नामी था। कश्मीर का यह बहुत भला राजा, जिसने अपने बाप और भाई के वक्त में अमुस्लमानों पर किए गए जुल्म की याद मिटाने की कोशिश की, आज भी बड़शाह के नाम से याद किया जाता है। लेकिन 1510 ई० के बाद सामयिक उल्लेखों में बुद्धमत तथा इसके धार्मिक केंद्रों का कोई संकेत नजर नहीं आता।

ऊपर दी गई घटनाओं से यह साफ ज़ाहिर होता है कि अपने लंबे और दर्द भरे इतिहास के लंबे अंतरालों में कश्मीर में बुद्धमत को उच्चता ही प्राप्त नहीं रही बल्कि यह करीब अठारह सौ वर्ष तक घाटी में एक जीवित धर्म के रूप छाया रहा, अतएव यह बात आश्चर्यजनक नहीं है कि इस ने इस स्वर्गभूमि की संस्कृति और इसके निवासियों के रहन सहन पर बड़ा गहरा प्रभाव डाला। अब भी थोड़े प्रयत्न से जनता के चरित्र उन के धर्म उन के रीतिरिवाज और निर्माण पद्धति पर बौद्ध प्रभावों को पहचाना जा सकता है।

बौद्धधर्म एक ऐसे समय कश्मीर में आया: जब यहां एक खास प्रकार के शैवमत, जिसमें नाना देवी देवताओं की आराधना भी शामिल थी, प्रचलित था। लेकिन नये धर्म ने यहां जल्द जड़ें फैला दीं। इसके बाद ये दोनों धर्म देर तक शांति तथा सद्भाव के वातावरण में एक दूसरे के साथ साथ फलते फूलते रहे। बहुत से शासक ऐसे गुजरे हैं जिन्होंने दोनों धर्मों को संरक्षण दिया। इस सहिष्णुता की परम्पराएं खुद अशोक महान नें शुरू कीं, जिसने बौद्ध निर्माणों के अलावा दो शैव मंदिर भी तामीर कराए। उसकी उदारचित्तता का जवाब बाद के हिंदु राजाओं ने बड़े उचित ढंग से दिया। खास तौर पर ललितादित्य ने इस संबंध में बड़ी भव्य परम्पराएं कायम कीं। लेकिन इससे भी बड़ी

बात यह है कि कुछ प्रारंभिक मुस्लिम राजाओं ने भी कई बौद्ध भवन बनवाए। उदाहरणत: सुलतान जैनउल-आब-दीन ने श्रीनगर में वितस्ता के दो किनारों पर दो बड़े ही सुन्दर बौद्ध विहार तामीर कराए।

कश्मीर में बौद्ध धर्म का प्रभाव और प्रचलन इतना सशक्त था कि ईसवी सन की दूसरी शती में यहां महात्मा बुद्ध को हिंदु अवतारों में एक माननीय स्थान दिया गया था। शेष भारत में यह बात काफी देर में कार्यान्वित हुई। बुद्ध की पूजा का आदेश कश्मीरी हिंदुओं को "नीलमत पुराण" से मिला है जो प्राचीन कश्मीरी तीर्थों, यात्रा स्थलों और उत्सवों का विवरण देता है। इस प्राचीन ग्रन्थ के अनुसार वैशाख पूर्णिमा के दिन बुद्ध की वर्षगांठ पूरे जोश एवं आस्था से मनाने की आज्ञा है। इस संबंध में यह बात स्पष्ट की गई है कि महात्मा की पूजा के साथ साथ मंदिरों में अनाज, कपड़ों, पुस्तकों, गायों आदि की भेंट भी चढ़ानी चाहिए।

महायाण दृष्टिकोण के उभार से, जिसमें कश्मीर की भी भूमिका है, दोनों धर्मों को एक दूसरे के निकट आने में मदद मिली, क्योंकि हिंदुओं के साथ साथ बौद्धों की भी अब अपनी देव-देवियों की शृंखला स्थापित हो गई थी।

हिंदु और बुद्धमत के शतियों तक शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व के कारण कुछ साझी रीतियां और साझी प्रवृत्तियां विकसित हुई, जिसकी वजह से जनता के मन में दोनों धर्मों के बीच अंतर कम हो गया। इस साझी रीतियों में "परिक्रमा" को खासतौर पेश किया जा सकता है।

बौद्धों की स्थापत्य कला का प्रभाव कश्मीर के हिन्दु मंदिरों पर आज भी वैसा ही देखा जा सकता है। यही नहीं स्थापत्य सम्बन्धी बौद्धों के प्रयोग दूसरे धर्मों में भी फैल गये हैं। यही हाल पवित्र अवशेषों की पूजा का है। हर साल लाखों हिंदु और मुसलमान घाटी के विभिन्न स्थानों में सुरक्षित अपने पवित्र धार्मिक अवशेषों पर श्रद्धा सुमन चढ़ाते हैं। बौद्धों के पवित्र वृक्षों तथा चक्र एवं स्वस्तिक जैसे धार्मिक चिन्हों, लेखों और रेखाचित्रों की पूजा-अर्चा की भावना के, जिन्हें जादुई प्रभाव सम्पन्न माना जाता था, को आज भी घाटी के सारे धर्मों के अनुयायिओं

में प्रचलित देखा जा सकता है। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि अष्टमी व्रत, जो कश्मीरी पंडित हर चंद्र मास के पक्ष के आठवें दिन रखते हैं, का मूल स्त्रोत भी बुद्धमत से संबद्ध है क्योंकि "अष्टम व्रत: विधान" के अनुसार इस दिन केवल शैवमत के देवताओं को ही श्रद्धा सुमन नहीं चढ़ाए जाते बल्कि बुद्ध और बोधिसत्व को भी। "इसके अलावा आज भी कश्मीरी पंडित 'होम' करते वक्त केवल अपने धर्म के देव-देवियों को ही बलि नहीं चढ़ाते बल्कि 'त्रिरत्न'* को भी। इसके इलावा दूसरे बौद्ध देवताओं और देवियों उदाहरणत: अवालोकी, लिस्तवारा और तारा को भी भेंट चढ़ाई जाती है। बौद्ध देवियां जिन में तारा, सुतारा, वाराही, मारीचि. लोचना, पडाखासिनी, पर्जना, परामिता, मोहरात्रि, रागरात्रि और वज्ररात्रि कश्मीरी पंडितों के उन भजनों में भी प्रमुख रूप में प्रकट होती हैं, जो वे रोज़ गाते हैं।

बुद्ध के उज्ज्वल दर्शन का कश्मीर के अहिंदुओं पर किसी न किसी अंदाज़ से ज़रूर प्रभाव होगा। इस बात का ज़िक्र पहले ही किया जा चुका है कि कुछ मुसलमान शासकों ने किस प्रकार मठ और विहार निर्माण कराए। "कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया" के लेखक के कथनानुसार ज़ैन-उल-आब-दीन महान जीवन यापन के सिद्धान्तों में मुगल सम्राटों के समान था। उसने शिकार को निषिद्ध करार दिया और रमज़ान के मास में वह स्वयं मांसाहार से दूर रहता था। अब भी घाटी के विभिन्न भागों में रहने वाले मुसलमान अपने बुज़ुर्ग 'ऋषियों' के वार्षिक उत्सव पर मांसाहार से दूर रहते हैं। ऋषि परम्परा को कई विद्वान बौद्ध संघ का उत्तराधिकारी करार देते हैं। ये ऋषि लोग ब्याह नहीं करते और आराधना तथा प्रभु नाम स्मरण में समय बिताते हैं। इन में से जो लोग निम्न वर्ग के हैं वे बौद्ध भिक्षुओं की तरह भीख मांगते रहते हैं।

कश्मीर की कला और स्थापत्य पर भी बौद्ध प्रभाव बड़े गहरे रहे हैं। शेष प्रदेशों की तरह यहां भी मूर्तिकला और चित्रकला बुद्धमत की देन हैं। जहां तक स्थापत्य का संबंध हैं, प्रसिद्ध कश्मीरी पुरातत्वज्ञ

*बुद्ध, संघ तथा विधि।

रामचंद काक का कहना है कि सबसे अच्छे हिंदु मंदिर वही हैं जो अपनी रूपरेखा के अनुसार बौद्ध मंदिर हैं, जिन्हें एक आयतन क्षेत्र के अंदर निर्मित किया गया है। "कश्मीर" के लेखक डाक्टर मही-उद्-दीन सूफी के अनुसार समकालीन कश्मीर में अधिकांश मुस्लिम धर्मशालाओं (खानकाहों) की बाहरी शक्ल बौद्ध पगोड़ाओं से बहुत समानता रखती है।

अंत में इस बात का उल्लेख बड़ा ज़रूरी मालूम होता है कि कश्मीर के लोगों क स्वभाव में सब्र, सहिष्णुता, मानवप्रेम, करुणा और उदारता के जो दृश्य दिखाई देते हैं उन्हें बौद्ध धर्म के प्रभाव से जोड़ा जा सकता है। जब प्रायद्वीप के विभाजन के परिणामस्वरूप दंगों की आग भड़क उठी तो बुद्धमत द्वारा विकीर्णित किरणों के चमत्कार का ही प्रभाव था कि गांधी जी के शब्दों में, कश्मीर से रोशनी की किरण जगमगा उठी थी।

अनुवाद :—रतनलाल शांत

———

डुग्गर के कुलदेवता

—ओम गोस्वामी

समस्त विश्व के लोक-मानस ने अनुष्ठानों, मिथकों, रीति-रीवाजों, फल-अफल आदि से सम्बन्धित विश्वासों की जो धारणायें बना रखी हैं, उनमें से अधिकांश का सम्वन्ध कृषक जीवन से है। कार्य एवं कारण की किसी तार्किक अथवा वैज्ञानिक परिभाषा की अनुपस्थिति में कुछ आधि-भौतिक तथा परा-प्राकृतिक शक्तियों की परिकल्पना की गई है, जिन्हें विशेष कार्यों के लिये उत्तरदायी ठहराया जाता है। वैदिक एवं पौराणिक धारणाओं के अनुसार जल, अग्नि, सूर्य, वायु आदि जीवनदायी प्राकृतिक तत्वों का एक-एक देवता माना जाता रहा है।

डोगरा-अंचल में प्रत्येक कार्य-कारण के लिये किसी न किसी देवता की अवधारणा दूसरे जनपदों से वहुत अधिक की गई है। लोक-देवताओं की बढ़ोतरी में निम्नलिखित कारण सहायक हुये हैं :—

1. सनातन धर्मा लोक-मानस।

2. कृषक जनसंख्या की वहुलता और इस कारण समूह मन का सहज विश्वासी तथा ईश्वर भीरु मानस।

3. जातीय विश्वासों की विविधता।

4. अशिक्षा तथा वैज्ञानिक सोच का अभाव।

5. गरीबी तथा रुग्ण सामाजिक ढांचा तथा

6. असुरक्षा की भावना।

मान्यता के भिन्न-भिन्न कारण होने से लोक-देवों की कोटियां भी अलग-अलग निर्धारित की जा सकती हैं :—

1. पौराणिक—वैष्णवी, महाकाली आदि।
2. मिथक—नागदेवता, वासक, सुरगल, काई आदि
3. देवत्व प्राप्त ऐतिहासिक पुरुष—गोगा चौहान (राजा मण्डलीक) आदि।
4. वलिदानी देव—देवत्व पद पर प्रतिष्ठित साधारण जन।

उपर्युक्त देवों को कारण विशेष से देवत्व से आवेष्ठित माना गया है। इसी कारण इनमें से अधिकांश को डोगरा जन-जाति के अलग-अलग कुलों में कुलदेवी या कुलदेवता की पदवी प्राप्त है।

कुल देवता से तात्पर्य उस अदृश्य शक्ति से है, लोक-मानस जिसका प्रत्येक शुभकार्य पर स्मरण करना अनिवार्य मानता है। इतना ही नहीं उसे उस 'परिवार' 'कुल' या 'जाति' की मुख्य उपास्य शक्ति के रूप में भी जाना जाता है। विश्वास किया जाता है कि यह शक्ति प्रत्येक विपत्ति में उस कुल के सदस्यों की रक्षा करती है। अपने मान-सम्मान, या अनादर के प्रति यह शक्ति जागरूक रहती है तथा अपने से सम्बद्ध कोई कोताही होने पर उचित दंड भी देती है।

लोक-मानस किस तरह प्राकृतिक शक्तियों से भयाक्रांत होकर दिव्य शक्तियों की कल्पना करता है, इसका उदाहरण हमें भीषण वायु-चक्र के सम्बन्ध में प्रचलित लोक विश्वास से प्राप्त होता है। लोक-मानस इसे 'रैम्वल शाह' या 'अहमद शाह' कहता है। कटाई के दिनों में प्राय: वायुचक्र चलते हैं जो कि गर्मियों में होने वाले जलवायु के परिवर्तन की स्वभाविक प्रक्रिया है। वायुचक्र इतनी प्रचंड गति से चलते हैं कि खेतों में पड़े फसल के वड़े-वड़े गट्ठरों को आकाश में उड़ा कर ले जातें हैं। 'रैम्वल शाह' को देखते ही किसान हाथ जोड़कर चले जाने की अनुनय-विनय करते हैं। 'रैम्वल शाह' की हालांकि लोक-देवता के तौर पर प्रतिष्ठा नहीं है—क्योंकि वायुचक्र कभी-कभार ही, किसी के खेत को उजाड़ पाते हैं, फिर भी लोक-मानस का विश्वास है कि इसे गाली नहीं देनी चाहिये अन्यथा यह क्रुद्ध होकर फसल को पूरी

तरह उजाड़ देता है।

इससे यह बात स्पष्ट होती है कि हानि की आशंका से ही लोक-मानस भयभीत होकर पराभौतिक शक्तियों की मान्यता करता है। अतएव यह निष्कर्ष निकलता है कि लोक देवताओं की मान्यता सुरक्षा तथा सुख-शांति की कामना से की जाती है।

डोगरा क्षेत्र के प्रत्येक गांव में—चाहे वह पंजाब में 'होशियार-पुर' या 'धार ब्लाक' का गांव हो या हिमाचल में चम्बा-कांगड़ा के करीब के गांव या फिर रियासत में जम्मू प्रांत के पुंछ-राजौरी, सुचेत-गढ़-आर० एस० पुरा, बसोहली-बिलावर, उधमपुर-रामनगर, भद्रवाह-किश्तवाड़ के आस-पास के गांव—हर कहीं दिव्य गुणों से सम्पन्न देवी-देवताओं की प्रतिष्ठा की गई है। सनातन विश्वास का यह अंश डोगरा संस्कृति की विशिष्ट पहचान कहा जा सकता है। आगे चल कर हम देखते हैं कि कुलदेवता की एक स्थानीय परंपरा डोगरा जन-जातियों* को परस्पर जोड़ती है। वास्तव में यह आदिवासी चरित्र के अवशेष हैं, जिन्हें इस खंड के हिन्दु धर्मावलम्बियों ने संभाल कर रखा हुआ है।

देव प्रतिष्ठापना के मुख्य अभिप्राय ये हैं :—

1. वंश वृद्धि।
2. धन-धान्य तथा फसल की सम्पन्नता।
3. सम्पत्ति की रक्षा।
4. पशुओं के आरोग्य की कामना तथा
5. आधि-व्याधि से रक्षा।

कुछ परिवार इन तमाम कामों के लिये एक ही देवता की दया दृष्टि की कामना करते हैं। यह पौराणिक मिथक या किसी भी दूसरी

---

* डोगरा क्षेत्र के ऐतिहासिक विकास में एक के बाद एक कबीले इस भूमि पर आते रहे हैं जैसे आर्य, खस, टक, खुक्खर, चिभाल, ठक्कर, गुर्जर आदि और यहां पर आकर इसी भूमि के गुणों में रच-पच जाते रहे हैं। प्रत्येक जन जाति की अपनी विशेषता होते हुए भी वह जिस एक बृहद जन-जाति में समा जाती है उसका नाम 'डोगरा' है।

कोटि का देवता हो सकता है। इस अभिप्राय सिद्धि वाले देवता को डोगरांचल में "कुलदेवता" कहने की प्रथा है।

भटियाल राजपूतों में प्रायः अठारह भुजा वाली दुर्गा तथा कार्तिकेय स्वामी जैसे पौराणिक देवों को कुलदेव के पद पर प्रतिष्ठित किया जाता है।

प्रायः प्रत्येक उपजाति का एक सांझा कुलदेव होता है। परन्तु उपजाति की शाखाओं, प्रशाखाओं तथा कुल-परिवारों के स्तर तक अलग-अलग कुलदेव भी होते हैं। यही कारण है कि एक कुल में एकाधिक कुलदेव भी मान्यता पा जाते हैं। जिस-जिस विपत्ति के समय जिस-जिस देवी या देवता के नाम से शांति मिली हो उसे कुलदेवता की श्रेणी में रखने की लोक-परंपरा चली आ रही है। वाद में उस कुल के प्रत्येक कार्य पर इसे भी रिझाया जाने लगता है।

बैसाख महीने को नई फसल पर डाले जाने वाले डोगरा-भंगड़े में सर्वत्र खुशी की लहर दौड़ रही होती है। इस समय युवा तथा तरुण लोग गत वर्ष के बिछड़े प्रियजनों को कैसे भुला सकते हैं। उनकी स्मृति में वे उदासीन कर देने वाली 'लुहानियां' बोलते जाते हैं। इनमें उन मित्रों तथा सम्वन्धियों को स्मरण किया जाता है जो अब नहीं रहे। लुहानियों के साथ-साथ अबाध गति से गीतिक्रम जारी रहता है। इस प्रसंग को उद्धृत करने का तात्पर्य इतना ही है कि लोक-मानस स्मृति, विश्वास तथा धारणाओं को अपने सुख तथा दुःख दोनों स्थितियों में कायम रखता है। इसके पीछे यह धारणा काम करती है कि आज जो सुख-स्मृद्धि-शांति है, वह दिवंगत आत्माओं के कारण है। यदि दिवंगत आत्मा ने किसी हक, न्याय या धर्म के निमित्त खुद प्राण छोड़े हों या उसे मार दिया गया हो तो लोक-मानस उसे देवता की पदवी पर बैठा देता है। ऐसे कुलदेव साधारण जन होते हुये भी मरणोपरांत लोक-श्रद्धा के कारण कुलदेवता की संज्ञा से विभूषित किये जाते हैं।

कुलदेवों का विश्लेषण करने पर यह तथ्य ज़ाहिर होता है कि वे अपने जीवन में असाधारण मृत्यु वरण करने वाले साधारण पुरुष अथवा स्त्रियां रही हैं।

पारिवारिक कलह, साम्पत्तिक विवाद, लोभ-लालच, क्रोध, परंपरा, सामाजिक अन्याय के कारण मरने वाले लागों को मरणोपरांत कुलदेवता मान कर पश्चाताप किया गया। 'ऐंधड़' के अन्दोत्रा राजपूतों में पारस्परिक विवाद में शहीद होने वाले पुरुषों की स्मृति में बनी चार बावड़ियों* पर कुल की रीतें करने की परंपरा है। शादी-ब्याह के अवसर पर स्त्रियां तीन स्थानों पर माथा टेककर चौथी बावड़ी पर भोजन करती हैं। शादी की रातों में प्रायः स्त्रियां इन स्थानों पर ऐसे गीत गाती हैं :—

नमियां लाड़ियां तेरै बावा आइयां न,
दिन्दियां बकरे बावा, मंगदियां पुत्तर न।

नव-ब्याहताएं अपनी झोली भर देने की प्रार्थना करती हैं। चारों बावड़ियों पर चार बकरे चढ़ाने की परंपरा है, जिन्हें कि विवाह के दौरान अलग-अलग अवसरों पर काटा जाता है।

यह आवश्यक नहीं कि कुलदेव अनुवांशिक दृष्टि से उसी कुल का प्रधान पुरुष रहा हो। अलबत्ता, डुग्गर में ऐसे कुलदेवों की संख्या पर्याप्त है, जिनमें अनेक कारणों से दूसरे कुल व शील के व्यक्ति को कुलदेव के पद पर शोभायमान किया गया हो।

कई बार कुलदेवी या कुलदेवता उसी परिवार का कोई सदस्य भी हो सकता है, जिसे कि किसी सचाई की राह पर प्राणोत्सर्ग करना पड़ा। कृषक-मानस, जीवन का कोई भी महत्वपूर्ण कार्य करने से पहले उसकी अभ्यर्थना ज़रूर करता है।

गोगा चौहान (राजा मण्डलीक) जैसे ऐतिहासिक मूल के देवता के डुग्गर के मैदानी तथा बाहरी पहाड़ियों वाले क्षेत्र में, अनेक स्थान हैं—जहां भूत-प्रेत आदि लोक-विश्वास सम्मत बाधाओं की झाड़-फूंक

---

* मृत्तात्मा की मान्यता-स्वरूप उस व्यक्ति के पत्थर के मोहरे बना-बना कर किसी देहरी, बावड़ी, बहते पानी के किनारे अथवा बरगद के पेड़ के नीचे रखे जाते हैं। कुछ लोग अपने घरों के ताकचों में इनकी स्थापना करते हैं।

की जाती है ।

राजा मंडलीक के लोक-गाथिक मंत्री कालीवीर को सैकड़ों कुलों, जो भिन्न-भिन्न जातियों से सम्बन्धित हैं, में कुलदेवता माना जाता है ।

राजा मण्डलीक वहुधा तरखानों (वढ़ई) के घरों में कुलदेवता के तौर पर मान्य है । वावा सिद्ध गोरिया तथा विरपानाथ को प्राय: निम्न जातियों के लोग मानते हैं । पहाड़ी क्षत्रों में 'नारसिंह' तथा 'राजा कल्हूर' की मानता भी देवता के रूप में है । मिथक देवता जैसे वावा भैड़, वासक ग्रादि भी कई कुलों में कुलदेवता स्वीकार किये गये हैं । परन्तु इसी कोटि के वावा सुरगल को किसी भी परिवार या जाति में कुलदेवता नहीं माना जाता । कुलदेवता वनने की प्रक्रिया को वावा सुरगल के चेल्ला श्री सतपाल डोगरा ने वहुत सीधे ग्रौर सरल ढंग से इस तरह रखा कि जिसे जो देवता 'टकर' जाये या जिसे जिस देवता से मन-वांछित फल मिल जाये, वही उस कुल में समादृत होने लगता है ।

प्राय: जिन कुलों में कालीवीर की मान्यता है, वहां म'ल्ल माता भी 'देवी' के रूप में प्रतिष्ठित की गई है ।

वहुत से क्षेत्रों के ग्रपने-ग्रपने देवता हैं, ग्रर्थात् उनके प्रभाव क्षेत्र की भौगोलिक सीमा वांध दी गई लगती है ।

वावा 'मेई मल्ल' ग्रौर 'वावा जितमल' दोनों समसामयिक माने गये हैं । परन्तु परस्पर विवाद के कारण 'मेईमल्ल' ने 'वावा जित्तो' को श्राप दिया था कि तेरी मान्यता चन्द्रभागा दरिया के उस पार रहेगी । इस पार तुझे कोई न मानेगा । यह सच है कि दरिया पार के लोग वावा जित्तो का नाम तक लेने से किसी प्रकोप के प्रति शंका-ग्रस्त हो उठते हैं । इसी तरह दरिया के इधर 'वावा मेई मल्ल' की मान्यता नहीं की जाती । ग्रनेक देवता ग्रलग-ग्रलग पर्वत शृंखलाग्रों पर ग्रपनी मान्यता रखते हैं । परन्तु, यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि 'चेल्ले' को 'जगा' देने के लिये प्राय: किसी भी दूसरे देवता का ग्राह्वान

काम कर जाता है ।* उसकी कारक गाये जाने पर 'चेल्ले' को 'पौन' आना शुरू हो जाती है । इससे एक संकेत यह भी मिलता है कि संभवतय: यह तमाम प्रणाली मनस-प्रक्रियाओं द्वारा परिचालित है । और यह कि हत्यारा होने को भावना से सनातनधर्मा व्यक्ति एक गहरी पाप-भावना से ग्रस्त हो जाता था । उसको सामाजिक अवहेलना उसे इस हीन-भावना में और अधिक उलझा देती थी । इसी दौरान उन्हें पूरा विश्व अपने विरुद्ध लगता था । वहरहाल, इस अध्ययन के मनोवैज्ञानिक पहलू को यहीं छोड़कर, हम देवताओं के भूगोल पर दृष्टिपात करें तो देव निर्माण की प्रक्रिया समझने में सुविधा रहेगो ।

'सुद्ध महादेव' आदि पहाड़ी क्षेत्रों के आगे 'संकरी' (पंचैरी गांव) 'स्यूंतल' (कोसल गांव), 'शंखपाल' तथा 'सपोर' (लद्धा क्षेत्र) देवताओं की मान्यता की जाती है ।

शंखपाल और स्यूंतल दोनों भाई कहे जाते हैं । दोनों के स्थान 'लद्धे की धार' (पर्वत) पर स्थित हैं । दोनों भाइयों में यह विवाद उठा कि राजा कौन है । निर्णय हुआ कि जो सब से पहले सामने वाले पहाड़ पर पहुंच कर, वहां रखा घड़ियाल वजायेगा, वही राजा होगा । 'पंचैरी' गांव पहुंच कर दोनों के रास्ते अलग हो गये । 'शंखपाल' 'लांह्दर' के रास्ते और सपोर 'लद्धे' के रास्ते चलने लगा । अभी दोनों ऊपर न पहुंचे थे कि घड़ियाल वजने लगा, जिसे सुनकर सपोर लद्धे के रास्ते में ही रुक गया । लेकिन, शंखपाल ने कहा कि चलो चलकर भाई को देख लेता हूं । जव वह वहां पहुंचा तो देखा कि उनकी तीनों वहनें पहले ही वहा पहुंच चुकी हैं और घड़ियाल वजा रही हैं । उसने पूछा कि तुमने यह क्या किया । वो तीनों वोलीं, 'हम चाहती थीं कि तुम राजा वनो । शंखपाल वहुत क्रोधित हुआ कि भाई से धोखा हुआ । उसने तीनों वहनों को उठाकर तीन अलग-अलग दिशाओं में फेंक दिया । अव जव भी शंखपाल की 'जात्तर' की जाती है तो इन तीनों वहिनों को भी पूजा जाता है । 'सपोर' का स्थान भी 'लद्धे' की

---

* इसमें केवल एक शर्त है कि उस देवता की दूसरे देवता से अनवन या परस्पर वर्जनाएं नहीं होनी चाहियें ।

धार पर है। उधर इन तमाम लोक-देवों में 'शंखपाल' को गुरुपद दिया गया है।

गांव 'संदरीनी' (चढ़ैई मुत्तल के समीप) 'देव' नामक देवता का स्थान है।

प्रायः देखने में आता है कि किन्हीं परिवारों में पौराणिक आख्यायनों में वर्णित देवों, शक्तियों को पूजा जाता है। उनमें कुलदेवता का कोई स्थान नहीं है।

किन्हीं परिवारों में एक के बजाये पांच-पांच तक कुलदेवता प्रतिष्ठापित हैं। इन में पौराणिक, मिथक, ऐतिहासिक तथा लोक देवों की कोटि के देवता सम्मिलित होते हैं।

लोक मान्यता के आधार पर लोक-देवों की निम्नलिखित कोटियां निर्धारित की जा सकती हैं :—

1. कुलदेव, जिनकी मान्यता केवल एक घर या वंश विशेष की शाखा करती है।

2. कुलदेव, जिनकी मान्यता एक पूरी विरादरी करती है।

3. कुलदेव, जिन्हें डोगरों की विशेष उपजाति मानती है।

4. कुलदेव, जिन्हें डोगरा जनपद की तमाम बिरादरियां तथा जातियां मनाती हैं।

एक उपजाति की किसी विशेष शाखा के कुलदेव की मान्यता किसी दूसरी उपजाति के विशेष कुल में किये जाने के उदाहरण भी सामने आते हैं। यथा 'भनोत्रा' ब्राह्मणों की एक शाख की कुलदेवी को 'भनोत्रा' महाशों में भी कुलदेवी ही माना जाता है। इस कुलदेवी की 'देहरियां' दो अलग-अलग स्थानों पर हैं। संभवतया इस के दो कारण रहे होंगे :—

1. उपर्युक्त ब्राह्मण कुल का कोई व्यक्ति महाशा विरादरी में शादी कर बैठा होगा।

2. किसी की 'हत्या' लगने पर उसे अपनी जाति बदलनी

पड़ी होगी।

परन्तु जातिच्युत होने पर भी उपजाति का नाम तथा रीति-रीवाज पहले वाले ही चलते रहे होंगे।

बलिदान के उपरान्त कुलदेवी या कुलदेवता बनाये जाने के प्रसंगों की डोगरा-अंचल में भरमार है। अब तक हमने 350 के लग-भग ऐसे देवी-देवताओं की शिनाख्त की है और यह सर्वेक्षण अभी जारी है। जितने बलिदान हुये हैं, प्रायः बलिदान के कारण भी उतने ही हैं।

परन्तु सामंती युग में प्रचलित परिपाटी के अनुसार सत्य के लिये, या परलोक के लिये वरण की गई मृत्यु को श्रेष्ठ मृत्यु माना गया है। असल में अपमृत्यु ही लोक-मानस को मृत्तात्मा में दिव्य गुणों की प्रतिष्ठा करने को वाध्य करती रही है। यहां तक कि दीर्घायु भोग कर मरे पति के साथ सती होने वाली पत्नी को सामन्ती दौर में 'देवी' मान लेने का प्रचलन रहा था! इस तरह बनाई गई कुलदेवियों के असली नाम भुला कर जन-मानस उन्हें 'शीलावतियां' कह कर स्मरण करता रहा है। इनके लिये डुग्गर में सती, सजौती, सजावती, शिलावती, शीलाबंती, स्हीदनी, दाती, सीलावती, सयापती तथा बुआ वगैरह विकारी-शब्द प्रयोग में लाये जाते हैं।

बलिदानी कुलदेवियों में अधिक संख्या सती-प्रथा के अनुसार आत्मदाह करने वाली देवियों की है।

यहां उन कारणों को जानना ज़रूरी है जिन्हें लेकर बलिदान की बलिवेदी पर ये लोग चढ़ने पर मजबूर हुये। सामंती दौर में पारिवारिक, सामाजिक तथा कहीं-कहीं राजनीतिक-ऐतिहासिक टकरावों की झलक देने के लिये कुछेक प्रसंगों की संक्षिप्त कथायें देना अनिवार्य हो जाता है ताकि बलिदानी कुलदेवों के आचार-शील व चरित्र को हमारे पाठक उस युग के संदर्भ में स्वयं आंक सकें :—

1. एक लंगेह (बुआ) 'भंगिनी' को दहेज के लोभ में ब्याह कर ले आया। लेकिन, दूसरे भाई-बांधवों ने उसे भंगी जाति की लड़की ब्याहने के कारण बिरादरी में शामिल नहीं किया। तंग आकर

उसके पति ने पत्नी को जंगल में ले जाकर उसका वध कर डाला। लगेह के कुल को 'हत्या' लगी। मृतात्मा सताने लगी। तव उपाय किया गया। भंगिनी को जीते-जी रसोई में नहीं घुसने दिया गया था। मरने के बाद उन्होंने उसके 'मोहरे' अपनी पाक-शाला में स्थापित किये।

2. एक सलारिया युवक ने अगुराला (रामदासी) जाति की लड़की से शादी की थी। उसने पत्नी की जाति का भेद अपनी विरादरी को नहीं वतलाया था। बुरे दिन आने पर पत्नी ने उसे चमड़े का काम करने के लिये कहा तो क्रोध में आकर उसने पत्नी की हत्या कर दी।

3. 'वावा कालू' की 'मंग' को एक नाग ने घेर लिया। उसे वचाते हुये वह खुद नाग द्वारा डसे गये और उनके साथ उनकी अविवाहिता मंग भी सती हो गई। वावा कालू 'पगाह' जट्टों का कुल-देवता है।

4. "वावा नागियाल' की सगाई हो चुकी थी। एक वार गलो पार करते हुए एक नाग ने उसे डस लिया। संयोग से उसकी 'मंग' सामने से देख रहा थी। लेकिन, लोकलाज के मारे वह कुछ कह या कर न सकी। वाद में वह उसी के साथ सती हुई। ये दोनों नागियाल जट्टों के देवी-देवता हैं।

5. तारिया, कांगना नामक ब्राह्मणी का बेटा था। वह तालाव पर पानी भरने आती औरतों के घड़े तोड़ देता। मन्हासों के एक कुल ने यह देखकर उसे मार डाला। कांगना पुत्र के साथ सती हुयी।

6. शक्करगढ़ के दाता 'नारो' के सम्मान व यश से दुःखी होकर दमोनियों ने उनका वध कर डाला।

7. एक दूसरी जाती की स्हीदनी के किसी ब्राह्मण के साथ अवैध सम्वन्ध थे। ठक्करों ने ब्राह्मण का वध कर दिया। विरोध स्वरूप वह स्त्री उसके साथ सती हो गई।

8. झीर जाति के दाता 'विद्दो' कहीं काम करके धन लिये घर लौट

रहे थे। रास्ते में रात पड़ी तो वह खजूरियों के घर रह पड़ा। घर वाले लालची हो उठे और दूसरे दिन उसकी हत्या कर दी गई। उनकी पत्नी उनके साथ सती हुई। 'वस्परिया' उपजाति के लोगों में बुआ को कुलदेवी की मान्यता प्राप्त है।

9. 'बावा सन्दूखड़ी वाले' की सोने के लोभ में एक क्षत्री द्वारा हत्या।
10. बावा भैरोनाथ की झोली से मूल्यवान वस्तुएं प्राप्त करने के लोभ में 'बन्नोत्रों' के किसी पुरुष द्वारा उनकी हत्या।
11. 'टुंडी देवी' ज़मीन की बांट के कारण सती होने पर मजबूर हुईं। शरखंडी ब्राह्मणों में कुलदेवी के तौर पर प्रतिष्ठित हैं।
12. 'दाता रणपत' ज़मीन की बांट में सरपंच बनाये गये और दूसरे पक्ष द्वारा मरवा दिये गये।
13. 'अस्सड' जट्टों के दाता 'वीरम' की ज़मीन के झगड़े में गौढ़ ब्राह्मणों द्वारा हत्या।
14. गांव के बूढ़ों से घूंघट न निकालने की झूठी बात पर जगहंसाई के कारण ब्राह्मण 'बंगी' द्वारा अपनी पत्नी सुखदेई का 'द्राट' द्वारा वध। बंगी का साधु बनना। बाद में राठियों के हाथों 'द्राट' से ही बंगी का भी वध।
15. 'ऊधो सिद्ध' शादी करके घर-जंवाई बने। लेकिन, लड़की से नहीं बनी तो ससुराल वालों ने मरवा डाला। इनके संग इनकी माता भी सती हुयी।
16. 'पूरबसिंह' के बैलों की जोड़ी चोरी चली गई। उनके वियोग में उसने पेट में कटारा घोंप कर आत्म-बलिदान दे दिया। उसकी मृत्यु की खबर पाकर उसकी दोनों बहिनें—एक ब्याहता और दूसरी कुंवारी, ज़हर खाकर जीवन-लीला समाप्त कर बैठीं। 'हत्या' ठक्करों को लगी जिन्होंने बैल चुराये थे।
17. लालपाल या राजपाल नामक राजा ने आठ दिनों का करार करके ब्राह्मणी से उसकी गाय ली। लेकिन, बाद में वह गाय लौटाने से मुकर गया। बुआ ने अपने शरीर से मांस काट-काट कर उसके

आंगन में फेंका और मर गई। इसका नाम दाती दवु'ज्जी' है। इसे विलालोच ब्राह्मणों को तीन शाखायें मानती हैं।

18. दाता 'रंगू' (हीरा जाति के जट्ट) की गाय ने 'मलवे' जाति के किसान की फसल को मुंह मारा, जिस पर उनकी हत्या कर दी गई। उनकी माता 'धम्मां' उनके साथ सती हो गईं।

19. कटी फसल के ढेर को गाय के मुंह मारने पर दाता 'लीखो' की हत्या।

20. दाता 'हल्लो' (बुन्न जाति के जट्ट) का 'मेहरू' गूजर की गायें हांक ले जाने वाले वज्जू जट्टों से घमासान युद्ध हुआ। गाय बंदी डालने पर उसकी देह थर-थर कांपने लगी थी। उसे धर्म की मर्यादा स्मरण हो आई :—

> ए हिन्दुयें दा वन्ना सुनी दा, कपला गंगा माई,
> कपला मरी जा विच वन्दी दै ते जीना हिन्दुयें नाईं।

इस युद्ध में वह अपने साथियों दाता 'भीखो' (लोहार) मियां धनियां (राजपूत) के साथ शहीद हुआ।

21. वावा 'ग़ालिब' नदी के किनारे गायें चराने जाते थे। वहां भीखे जाति के झीवर, जाल डालकर मछलियां पकड़ते थे। वावा हर रोज़ जाल खोल देते थे, जिससे मछलियां बच जातीं। तंग आकर झीवरों ने उन्हें धोखे से नदी के पास मार डाला।

22. मिसरों की एक शाख का पुरखा वावड़ी के किनारे बैठा तप कर रहा था। एक स्त्री उसे अपनी वच्ची सौंप गई। तपस्वी अपने में मग्न था, इसलिये वच्ची पानी में डूब गई। लौट कर वच्ची की मां अपनी वच्ची के साथ सती हो गई।

23. साग-सब्ज़ी पकाते हुये कलुछी से इसकी गन्ध लेने पर ननद ने ताना मारा कि सब्जी जूठी कर दी है। इस पर 'सजावती' ने ज़मीन से जगह मांगी। ज़मीन फट गई और वह भूमि में समा गई। 'रसकोत्रा' ब्राह्मणों ने इसे कुलदेवी माना है।

24. मायके जाने की तैयारी करके बैठी सजावती का ननद ने विरोध

किया। घर के शेष सदस्यों को वहु के मायके जाने पर क
आपत्ति न थी। वहु घर से निकल कर मायके के रास्ते में प
वाले 'डग्होड़' गांव में पहुंची। वहां लकड़ियां इकट्ठी क
आत्मदाह कर लिया।

25. मां-वाप की प्यारी अमरो को खूव दान-दहेज मिला। इसके अ
रिक्त मायके वालों ने उसके ससुराल के लिये उनके आंगन
कुआं खुदवा दिया। हर रोज़ ससुराल वालों के लिये रोटी
उसके मायके से पक कर आती। लेकिन, सास के मन को तव
चैन न आया। तव एक दिन अमरो को ऊखल में डाल कर ऊ
से मूसल मार-मार कर सास ने उसकी हत्या कर दी।

26. वावा 'जित्तो' ने फसल पर अपने अधिकार के लिये आत्म-वलिद
कर डाला।

27. 'पक्याल केसर' ब्राह्मणों के एक पुरखे ने दूसरी शादी कर ली
पहली पत्नी को यह वात न भायी। एक दिन जव उसका प
नव-ब्याहता के साथ कमरे में बैठा हुआ था, पहली ने कमरे
आग लगा दी। पति छलांग लगाकर वच निकला, लेकिन
दुल्हिन जलकर भस्म हो गई।

28. पैतृक सम्पत्ति में वावा 'भागी' द्वारा भाग ले लेने की आशंका
राजा के सात लड़कों और एक लड़की ने ब्राह्मणी के लड़के
वध कर डाला। 'जड़ेड़याल' महाजन विरादरी में इसकी शह
कुलदेवता के रूप में मान्यता हुयी।

29. वन में एक मस्त हाथी से सामना होने पर वटकुलियों (ब्राह्म
के एक पूर्वज की मृत्यु हो गई। उसकी गर्भवती पत्नी सती ह
चली। रास्ते में पुत्र को जन्म दिया और पति के साथ अग्निद
ले लिया।

30. 'कुरहान' ठक्करों की एक शाख में 'स्हीदनी' अपने मायके वा
से रूठ गई और अन्न जल का त्याग कर बैठी। उसने अप
वच्ची को भी कुछ न लेने दिया। दोनों मर गईं।

31. 'सिक्ख-आपराजियों' के दौरान जव सिक्खों की मिसलें लूट-प

के लिये इस क्षेत्र में गाहे-बगाहे आती रहती थीं, तब का वाक्या सुनाते हैं। बुआ 'देव' अपने आंगन में अपने बाल धो रही थी। सिख सिपाहियों ने उसे देख लिया और लड़की के 'अनार' नामक भाई से कहा कि हमें वह लड़की ला दो। तुरन्त, अनार बुआ देव को कमरे में ले गया। वहां बन्द होकर दोनों ने आत्मदाह कर लिया। इनकी मान्यता 'सदोहत्रे' ब्राह्मणों में हुई।

इस तरह की अनेकानेक कहानियां हैं, जिनमें हम देखते हैं कि नाना मनोविकारों, सामाजिक कुप्रथाओं, कलह, संदेह-आशंका, धर्म निमित्त बहुत से व्यक्ति मरे हैं। कुछ लोग महज़ लूट-खसूट का शिकार भी हुए हैं।

काम-प्रम, गौ रक्षा, आत्माभिमान, जात-पात, सौतिया डाह, ननद-भाभी अथवा सास-बहु के झगड़े, ताने, लोभ, क्रोध अथवा ज़मीन के विवाद ने बहुत से लोगों को मृत्यु की बलिवेदी पर चढ़ाया है। सामंतकालीन डोगरा समाज में सती प्रथा अपने उत्कर्ष पर दिखाई देती है, जबकि छोटी-छोटी बातों पर स्त्रियों ने आत्मदाह किये हैं। इतना ही नहीं स्त्रियां पति की साधारण मौत अथवा अपमृत्यु पर भी उसके साथ चिता पर जल मरी हैं। पति ही क्यों भाइयों पुत्रों के साथ सती होने के उदाहरण भी बहुतेरे हैं। वास्तव में उस काल में सती होने के पीछे ये कारण मुख्य रहे हैं :—

1. सती कांड एक उच्च सामाजिक प्रथा के रूप में मान्य था।
2. परंपरा में बंधी स्त्री की बे-बसी*
3. अपने कुल के साथ हुये अन्याय का बदला लेने के लिये भी अनेक देवियां सती होती थीं।

---

* ऐसे उदाहरण भी सहज ही उपलब्ध हो जाते हैं जब पति के मरने पर मायके से लड़की के भाई आकर उसे जबर्दस्ती चिता पर चढ़ाते थे। इस समय उसे एक नशीला पेय पिला कर ढोल और नगाड़े बजाये जाते। गांव की स्त्रियां सती-गीत गातीं। और लड़की के भाई चिता के चारों ओर उसके भस्म होने तक नंगी तलवारें लेकर पहरा देते।

यहां तक कि पूरी आयु भोग कर मरने वाले बूढ़े के संग उसक
युवा पत्नी चिता पर चढ़ने को वाध्य होती थी। किन्तु बे-मौत मर
वालों के साथ सती होने की घटनायें अधिक उपलब्ध होती हैं। पु
के 'सूदन' ब्राह्मणों की एक शाखा का व्यक्ति घोड़े लेकर भद्रवाह गय
हुआ था—जहां उसकी मृत्यु हो गई। उसके साथी वहां से उसकी पग
और छड़ी ले आये। पति को इन्हीं निशानियों के साथ पत्नी सत
हो गई।

सती अनुष्ठान को उस समय के समाज में सर्वोच्च धार्मिक
कांड माना जाता रहा है। इसके पीछे यह विश्वास कार्यरत रहा है
सती होने वाली स्त्री को स्वर्ग प्राप्त होता है। विधवा के सम्बन्ध
प्रायः यह माना जाता है कि पति के वाद उसका जीवन दूसरों प
आश्रित होने के कारण तबाह हो जाता है। परम्परा में बंधी औरतों
यह विश्वास अभी तक प्रचलित है कि पति के जीते जी मरने वाली स्त्र
को स्वर्ग प्राप्त होता है। विधवा को कांटों से भरे रास्ते पर चलन
होता है। 'तनख्याल' ब्राह्मणों की कुलदेवी 'महापुरुषणी' विधवा थीं
उनका गुज़ारा नहीं होता था। उन्होंने गांव की स्वर्ण विरादरी से क
कि मुझे 'पंडतायी' कमा कर दो, मेरी भी गुजर होती रहेगी। कि
ने उनका कहना नहीं माना तो वह चिता सजा कर सती हो गई। उस
सती होते ही एकाधिक कुलों ने भयभीत हो उसे कुलदेवी मान लिया।

कहने का तात्पर्य यह कि चाहे 'बुआ भंगनी' हो या 'बुआ मह
पुरुषणी' किसी को जीते जी सम्मान न मिल पाया। कायर जन-मान
ने जिन्हें अवहेलना, तिरस्कार और अपमान ही दिया, मरने के बाद उ
कुलदेवी मान लिया ताकि मृतात्मा के कोप से वचे रहें।

सती का अर्थ हमारे यहां किसी क्लेश के कारण सत्य की र
पर आत्मदाह करने वाली स्त्री से लिया जाता है। कुलदेवों में ऐ
स्त्रियां भी हैं जिन्होंने किसी ऊंचे पहाड़ से कूद कर इह-लीला समा
की। इसी तरह पुरुषों ने भी, जेसा कि ऊपर दी गई कथाओं से स्प
हुआ, एकाधिक कारणों से वलिदान दिया।

मृत्यु के वाद इन्हें कुलदेवता क्यों माना गया यह एक स्वभावि

प्रश्न है। इसके लिये हमें लोक-मानस से यह उत्तर मिलते हैं :—

1. सत्य के लिये दिया गया वलिदान एक श्रेष्ठ मरण है और यह अकारथ नहीं जाता।

2. मृत्तात्मा में दिव्यता का प्रवेश हो जाता है। वह क्रोधित होने पर तबाही और खुश होने पर सुख शांति पहुंचाती है।

3. अवगति की मृत्यु के कारण भटकती आत्मा अपने शत्रुओं और सम्बन्धियों को कष्ट पहुंचाती है। इसलिये कोई सयाना व्यक्ति इसका उपाय करता है, जो प्रायः किसी देवस्थान का 'चेल्ला' होता है। वह अपनी विधि द्वारा कष्ट में पड़े घर के सदस्यों के अवचेतन मन को बुलवा कर खोट की पहचान करता है। मृत्तात्मा प्रायः कुलदेव के तौर पर स्थापित होकर ही तृप्त होती है।

स्थापना के लिये घर के ताकचे में पत्थर के 'मोहरे' रखे जाते हैं। कुछ परिवार मृत्तात्मा के निर्देश के अनुसार उसकी देहरी या बावड़ी बना कर मोहरे वहां रख देते हैं। कुलदेवता के नाम की सांकलें भी चढ़ाई जाती हैं, जिन्हें 'झुण्डे' कहते हैं।

किसी शुभकार्य से पहले देवी-देवता की पूजा-अर्चना करके उन पर 'लोहान' का 'छोआड़' तथा मिष्ठान्न चढ़ाया जाता है। डोगरों में 'खारकों' की प्रथा पूर्णतया कुलदेवों से सम्बन्धित हैं।

कुलदेवता के मोहरों या झुण्डों को नहलाते हुये स्त्रियां घूंघट निकाल लेती है। 'कालीबीर' को केवल घर का पुरुष ही स्नान करवाता है। स्त्रियां उस पर अपनी परछाईं तक नहीं डालतीं।

कई स्थानों पर अनुष्ठानिक प्रक्रिया में संकेतात्मक इतिहास अथवा उपदेश भी दिखाई देता है। जम्मू में संस्कृत के विद्वान श्री पीतांबर पारखी ने अपनी कुलदेवी से सम्बन्धित प्रक्रिया इस तरह बयान की कि एक विशेष दिन को (संभवतया खारके वाले दिन) माता जी एक बड़ा बर्तन साफ करके रखतीं, उसमें एक साफ धोती डाल देतीं और उस पर घर के प्रत्येक सदस्य से एक-एक मूंठ आटा डलवाया जाता। नीचे धोती होने के कारण बर्तन भरा-भरा लगता। बाद में इस आटे की

खजूरें तली जातीं। इन खजूरों को घर के सदस्य खाते। इन पर मच्छर तक न बैठने दिया जाता। इनसे सम्बन्धित यह वर्जना भी थी कि घर के सदस्यों के अतिरिक्त यह किसी को न दी जाये। इस अनुष्ठान की व्याख्या उन्होंने इस तरह की कि किसी समय देश में भयंकर अकाल पड़ा होगा जिससे बुआ का देहांत हो गया। बाद को पीढ़ियों को अकाल के दौर से संभलने का उपदेश देने के लिये इस अनुष्ठान की उद्भावना की गई होगी।

प्रायः किसी में देवता सम्बन्धी दोष को 'हत्या' कहा जाता है। 'हत्या मनाने' का भाव, वध के अतिरिक्त मृत्तात्मा के साथ हुए जुल्म के प्रति पश्चाताप से लिया जाता है। राजा मण्डलीक ने एक स्थान पर एक 'डोली' में मृत्तात्मा ने बोलते हुए बतलाया कि मैं समाधि लेना चाहता था। तुम लोगों ने मुझे जला दिया। अब चेल्ले ने घर वालों से उसकी देवता के तौर पर प्रतिष्ठा करवाई।

निष्कर्षतः हम देखते हैं कि बलिदानी व्यक्तियों को पश्चाताप स्वरूप कुलदेवता मानकर, मरणोपरान्त सम्मानित किया गया है।

———

डुग्गर के लोकनाच

— विश्वनाथ खजूरिया

चैत मास का रथ ग्राव ताव के साथ बढ़ता चला ग्रा रहा है। चारों ग्रोर पलाश के पेड़ लाल-पीले फूलों से लदे खड़े हैं। कहीं ग्रमलतास की टहनियों के साथ वसन्ती सुमन-गुच्छ स्वागती फानूसों के समान झूल रहे हैं तो कहीं गगन चुम्बी सेमल के पेड़ों पर लाल लाल फूल, हवा में तैरते ग्राकाश दीप जैसे दिखाई पड़ते हैं। ग्राम के पेड़ों पर "बौर" फूट पड़े हैं, जिनकी मादक सुगंध पर भंवरे पागलों की तरह उमड़ते चले ग्रा रहे हैं।

ग्रौर "शाह रैहमा" पुरवैया का रथ भी चल पड़ा है।

ऐसे में गन्दुम के सुनहरी खेत कैसे स्थिर रह सकते हैं? वह भी मस्ती से झूम उठे हैं—एक सुनहरी दरिया लहराता, उमड़ता, बहता दिखाई दे रहा है। लगता है ग्राज धरती बौरा गई है ग्रौर ग्रपनी मेहनत की सफलता को यूं हुमकते-झूमते देखकर धरती-पुत्र किसान भी बौराया सा दीखता है। बैठे बैठे ही उसके पांव में एक चंचल थिरकन, ग्रौर उसके कंधों में मीठी कसमसाहट सी होने लगती है।

ऐसे मस्ताना माहौल में डुग्गर के मैदानी इलाके के गांव गांव के चौपाल से, रात घनी होते ही, ढोल की थाप उठ कर हवा के कंधों पर तैरने लगती है :—

"धिन धिन नागे तिन—धिन धिन नागे तिन ··"
"साथियो ! ग्रपने घुंघरू लेकर चौपाल पहुंचो···"

वहां काफी रात तक "भांगड़े" का अभ्यास चलता है। और यह क्रम प्रायः बैसाखी की पहली रात तक जारी रहता है।

बैसाखी के शुभ दिन गांव गांव से भांगड़े की टोलियां खूब सज-धज कर, नाचती-गाती मेले में पहुंचती हैं, जहां उन्हें अपने नृत्य-कौशल का प्रदर्शन ही नहीं करना होता, अपने गांव का नाम भी रौशन करना होता है।

डुग्गर के लोक नाचों में भांगड़ा, फुम्मनी और ढेक्रु (कुड), यह तीन नाच सर्वाधिक लोकप्रिय हैं, जो भूमि की अवस्था के अनुसार डुग्गर की तीन इकाइयों के जन जीवन को प्रतिबिम्बित करते हैं :—

(1) दक्षिणी मैदानी इलाके का भांगड़ा, (2) बीच की कंढी की गर्म-खुश्क और पथरीली धरती का "फुम्मनी" नाच और (3) ऊंचे पहाड़ी इलाके (किश्तवाड़, भद्रवाह-बसोहली आदि) का "ढेक्रु" (कुड)।

भांगड़ा:—यह लोक नाच पंजाब की असाड़ी (रबीय) फसल का लोक नाच है। परन्तु अधिक लोकप्रिय होने के कारण अब यह नाच बैसाखी के इलावा अन्य त्योहारों, सांस्कृतिक उत्सवों और विवाह आदि मंगल कार्यों पर भी नाचा जाता है, और एक प्रकार से कृषक जीवन का एक अंग बन गया है। अपने जोशीले स्वभाव और मुद्राओं की शोखी और "सद्दों" की बोली आदि के कारण "भांगड़ा" डोगरे-पहाड़ी स्वभाव से पूरा मेल तो नहीं खाता, परन्तु पंजाब के पड़ोस और सांस्कृतिक आदान-प्रदान के कारण डुग्गर के मैदानी इलाके—कठुआ से लेकर तहसील रणबीरसिंह पुरा और चन्द्रभागा पार पलांह्वाना तक में यह लोक नाच पंजाब के समान ही लोक प्रिय है।

जंगली फूल या पहाड़ी चश्मे जिस तरह धरती अंदर से अपने आप फूट निकलते हैं, इसी तरह लोक नाच भी बिना किसी बाहिरी कोशिश के, अन्तर-प्रेरणा के प्रभाव से जन-मानस से फूट निकलते हैं। इसी लिए भांगड़ा के बंधे-बंधाए नियम या मुद्राएं नहीं हैं। कृषि संबंधी कोई भी भाव या 'एकशन' इस नाच की मुद्रा का रूप धारण कर लेता है। किसान जीवन की मुशक्कत भरी शोखी भांगड़े में भरपूर पाई जाती है।

नर्तकों की पोशाक वड़ी भड़कीली होती है। पांव में घुंघरू, तन पर किसी चमकदार कपड़े का मुगलेई कुर्ता, और उसके ऊपर गोटा-किंनारी जड़ी साटन आदि की भड़कीली वासकट, और नीचे भी वैसा ही भड़कीला और मेल खाते रंग का लाचा। नर्तकों के सिर पर चम-चमाता पटका बंधा होता है। जिसके दोनों सिरे फुंदनों के समान कानों के पास झूलते रहते हैं। कलाईयों पर पोशाक से मेल खाते दो रुमाल बंधे होते हैं, गले में कैंठा या तावीज़ और हाथों में उनके लम्बी सी 'डांग' आदि होते हैं।

नर्तक, ढोलिए (जो नृत्य का सूत्रधार होता है) के गिर्द घेरा बांध कर खड़े हैं। ढोल की तीखी सी "तिग्गी" लगते ही नर्तक बाहें उठा कर, नाचना शुरू कर देते हैं। बदलते तालपर कभी एक कभी दूसरी टांग उठा कर और कलाईयां तथा कभी कंधे मटकाकर, बाजू झटकते कभी उठते, कभी बैठते हैं। उनका हर डग मर्दाना अदा के साथ उठता और धरती पर पड़ता है। थोड़े-थोड़े अन्तर के बाद नृत्य की लहर थमती है और घेरे में आकर कोई एक नर्तक, कान पर उंगली रखकर एक "सद्द" लगाता है, जिसके अंत में सारे नर्तक एक स्वर से 'होए' कह कर ऊंचे उछलते और फिर नाचना शुरू कर देते हैं। इन "सद्दों" में साधारण तौर पर अपने देश, अपने खेत या किसी "मुटयार" के प्रति प्यार भरा प्रदर्शन होता है।

भांगड़े से मिलते अन्य प्रदेशों में भी कुछ नाच पाए जाते हैं, जैसे असम का "बैसाख विहु" (जिसका आयोजन बैसाखी से एक दिन पहले होता है)। मध्य-प्रदेश का "होई रंगीलो", "बैसाखो" और "स्टेला" आदि। उत्तर प्रदेश का "सख्या" और विहार का "करम" आदि। ये सब कृषक जीवन से सम्बन्ध रखने वाले लोकनाच हैं।

फुम्मनी :—यह जम्मू के इलाका कंडी का अपना प्राचीन लोक नाच है। इसकी मूल भावना धार्मिक है। नाग देवता "सुरगल" और "गुग्गा वीर" के देवस्थानों के साथ न जाने, कब से इस नाच का संबंध चला आ रहा है। कंडी के रक्कड़, पथरीले इलाके में जहरीले सांपों, बिच्छुओं की बहुलता है। इसलिए यहां की जनता की नागदेवता 'सुरगल' और 'गुग्गा बीर' पर अटूट श्रद्धा और आस्था है। उनकी

आज भी यह धारणा है कि यह देवता उनके परिवार और पशुधन की रक्षा करते हैं। इसीलिए रविवार और मंगल के दिन वह नाग देवता के आगे भेंट चढ़ाते और मन्नतें मानते हैं। उनका यह भी विश्वास है कि 'बावा जी' की शक्कर (बाम्बी की मिट्टी) और चरणामृत के प्रयोग से सर्पदंश का रोगी ठीक हो जाता है।

फुम्मनी नाच कुछ हरिजन घरानों में परम्परागत चला आ रहा है, जो बावा जी (सुरगल देवता) के 'पचैले' या चेले कहलाते हैं। (अधिक लोकप्रिय होने के कारण आजकल अन्य कई लोगों ने भी इसे अपना लिया है।)

नागपंचमी या गुग्गा नवमी (कृष्ण जन्माष्टमी के अगले दिन) सुरगल देव या गुग्गा के देवस्थानों से गुग्याल (नाग देवता की शोभा-यात्रा) निकलती है, जिसमें रंग-बिरंगे झंडे उठाए कुछ लोग आगे आगे चलते हैं। उनके पीछे रणसिंहा, घड़याल, झांझ, बांसुरी और ढोल बजाने वालों की टोली, और नर्तक मंडली चलती है। उनके पीछे 'पचैला' देवता की चौकी उठाए, नंगे पांव चलता है। उसके पीछे भगत लोग नाग देवता के जयकारे बुलाते चलते हैं। यह गुग्याल गांव गांव घूमकर, विशेष-प्रार्थना पर उन घरों में भी जाती है जहां देवता के आशीर्वाद से बच्चे का जन्म हुआ होता है, या जहरीले सांप के काटे व्यक्ति की जान बची होती है।

नाच :—पहले देवता की आरती उतारी जाती है, जिसमें सभी लोग भाग लेते हैं। आरती के बाद लोगों के घेरे में वादक वृन्द के चारों ओर नाचने वाले खड़े हो जाते हैं। मुखिया नाग देवता का जयघोष करता है, और उसके साथ ही 'फुम्मनी' नाच शुरू हो जाता है।

इस नाच का 'फुम्मनी' नाम, इसकी एक विशेष मुद्रा के आधार पर पड़ा है, जिसमें नर्तक लोग नाचते नाचते अपने दोनों हाथों की उंगलियां फूल की कली के समान बंद कर लेते हैं। फिर नाचते नाचते एक एक करके उन्हें खोलते चलते हैं। अब नर्तकों के हाथ अधखिले फूल या पशम के फुंदने (फुम्मनी) के समान खुल जाते हैं। भाव इसी मुद्रा का यह है कि जिस शिशु के जन्म के शुकराने के तौर पर यह नाच

पेश किया जा रहा है, वह आज (फूल की) बन्द कली के समान है। नाग देवता के आशीर्वाद से, वह दिन-प्रतिदिन परवान चढ़े फूले-फले। उसका यश फूल की खुशबू की तरह दूर दूर तक फैले। इस मुद्रा के साथ रणसिंहा के अंदर से तीखी सी ध्वनि निकलती है—'तुत्-ड़ू-तड़ू', जैसे ध्वनित हो रहा हो—'तथा अस्तु…।'

नाच की वाकी मुद्राएं भी सांकेतक और भावपूर्ण होती हैं। शुरू में नर्तक अपने कूल्हों पर हाथ रखकर ढोल के ताल पर मटक मटक कर कदम उठाते हुए घेरे में चलते हैं। अगली मुद्रा में एक बाजू आधा और दूसरा पूरा खोल कर नर्तक दाएं-वाएं मुड़ते हुए कदम बढ़ाते हैं। अन्य तीन चार मुद्राएं, वच्चे को गोद में लेने, उसे छाती से लगाने और रिझाने आदि का सुन्दर संकेत देती हैं। नर्तक जब झुक झुक कर, चुटकियां वजाते और मुंह से 'सी-सी' की मधुर ध्वनि निकालते हैं तो दर्शक गदगद हो उठते हैं। अंतिम मुद्रा में मुखिया किसी माता की गोद से शिशु को उठाकर अपनी वाहों में ले लेता है। वाकी नर्तक खाली वाहों से इसका संकेत देते हुए अपनी नजरें 'शिशु' की ओर झुका कर मुसकराते हुए मुंह से 'शू…शू…' की ध्वनि निकालते हैं, जैसे कोई ममता भरी माता अपने वच्चे को पुचकारती है।

अंत में मुखिया हाथ जोड़ कर 'जय वावे दी' पुकारता है और सारे नर्तक अपने सीस झुका लेते हैं और फुम्मनी की एक चौकी समाप्त होती है।

फुम्मनी नाच की एक और पुरानी शैली भी थी, जिसमें नर्तक समूह की वजाए एक-एक या दो-दो नर्तक, रात के समय वड़ा सा दीपक जलाकर उसके आसपास नाचा करते थे। थक जाने पर उनका स्थान दूसरे कलाकार ले लेते थे। यह क्रम रात भर चलता था।

देश के बटवारे से पहले पंजाव के बड़े-बड़े (हिन्दु-मुसलमान) जमींदार और रईस पुत्र-जन्म और विवाह आदि के शुभ अवसरों पर जम्मू से फुम्मनी नर्तकों को अपने हां बुलाया करते थे, और रात-रात भर उनके हां 'फुम्मनी जशन' चलता था। यही कारण है कि पंजाबी लोक नाच 'लुड्डा', 'झूमर' और 'टिपरी' आदि पर डुग्गर के लोक-

नाच फुम्मनी का प्रभाव अभी तक दिखाई देता है।

डुग्गर का यह फुम्मनी नाच मध्यप्रदेश के लोकनाच 'करम', केरल के 'पोर करली' और नागपुर के 'सरहुल' से कई वातों में काफी मिलता है।

फुम्मनी नाच कहरवा ताल और आठ मात्रा में चलता है। ढोल के इसके मुख्य वोल हैं: 'धिनकड़ नागे, तिनकड़ नागे…धिनकड़…।'

फुम्मनी से मिलता जुलता कंडी का दूसरा लोक नाच 'चौकी' है। इसके लिए ज्येष्ठ शुक्ला एकादशी का दिन निश्चित है। नाग देवता के स्थान पर 'खेत्रपाल' या किसी 'पीर' के नाम पर इसका आयोजन किया जाता है। इसमें मुसलमान भी शामिल होते हैं। नाग देवता की चौकी के स्थान पर इस नाचमण्डली के साथ 'पीर का निशान' होता है। नाच की मुद्राएं 'फुम्मनी' जैसी ही होती हैं। 'चौकी' की विशेषता यह है कि इस के साथ स्त्रियों का गीत भी चलता है। ऐसे एक गीत के वोल हैं:—

ओ सच्चेआ मेरा ध्यान तेरे वल्ल।
मेरे हत्थ माए छापां नूठियां,
मेरा पोर सच्चा, में झूठी आं,
सच्चेआ मेरा ध्यान तेरे वल्ल…।

नाच के दो दिन वाद गांव में भण्डारा होता है।

ढेकू :—यह पहाड़ी इलाके का प्राचीन लोक नाच है, मुख्यता देवस्थानों से सम्वन्ध रखता है। इसे कई लोग 'कुड' के नाम से भी पुकारते हैं, परन्तु भद्रवाही बोली में 'कुड' का अर्थ 'नाच' न होकर 'मेला' है। ढेकू का ताल भांगड़ा या फुम्मनी के मुकावले में अधिक मद्धिम और शान्त होता है। यह वात लगभग हर पहाड़ी लोक नाच में दिखाई देती है। कारण यह है कि अधिक ऊंचाई पर स्थित होने के कारण वहां हवा का दवाव वहुत कम होता है और थोड़ा सा परिश्रम करने पर भी दम फूल जाता है, इसलिए नाच में अधिक उछल-कूद नहीं चलती।

शिवरात्री के वाद यहां के किसान धान की पनीरी रोपने

मक्की की फसल की नुलाई से निवृत्त होकर, देवस्थानों पर वारी वारी से 'ढेकू' का प्रदर्शन शुरू करते हैं, और फसल की कटाई के दिनों को छोड़कर यह सिलसिला विजयदशमी तक चलता रहता है।

इस नाच की दो शैलियां हैं। कहीं तो यह अग्नि-कुण्ड के गिर्द घूमकर नाचा जाता है, तो कहीं किसी खुले मैदान में। आजकल विवाह आदि मंगल कार्यों पर भी इसका आयोजन किया जाता है।

निश्चित स्थान पर, दिन ढलते ढलते दूर दूर से लोग ढेकू देखने और उसमें भाग लेने के लिए जमा होने लगते हैं। चांदनी खिलते ही नर्तक, जिनकी गिनती सौ तक भी पहुंच जाती है, घेरा बांध कर खड़े हो जाते हैं, और उस घेरे के वीच रणसिंहा, बांसुरी, झांझ और 'ढौंस' (वड़ा सा ढोल) वजाने वाले खड़े हो जाते हैं। ढौंस के गम्भीर-मद्धिम ताल : "धिन ता—ता धिन ता, धिन ता ता………" और बांसुरी की मीठी लम्वी तान पर 'ढेकू' नाच शुरू हो जाता है। नर्तक कलापूर्ण ढंग से डग भरते, अपनी वाहें फैलाते और मस्तानी अदा से अपने ऊपर के धड़ को लचकाते चलते हैं, और हुंकार भरे झटके के साथ अपनी दिशा वदलते हैं। इस 'मुकाम' पर ढौंस की गहरी थाप झांझ की भारी झंकार नर्तकों का साथ देती है। नर्तक कभी ताली तो कभी चुटकियां वजाते हैं। उनकी ये मुद्राएं, हवा के झोंकों के साथ लहराते गगन-चुम्बी देवदारों, और उनकी टहनियों पर नाचती चांद की किरणों और कलकल करते झरनों का दृश्य प्रस्तुत करती हैं। खामोश चांदनी में इस नाच का संगीत दूर दूर तक गूंजता है।

जो नर्तक नाचते नाचते थक जाते हैं, उनका स्थान दर्शकों के घेरे में से आकर दूसरे लोग ले लेते हैं, क्योंकि इन पहाड़ों का हर वासी ढेकू का जन्म-जात नर्तक होता है। रात भर यह नाच चलता है। कहीं कहीं नाच के साथ किसी पहाड़ी लोक गीत के स्वर भी उभरते हैं :

'…ढेकू पुड़ नच्स्तम दूई ज़ने, हो-हो…'
(आओ इस ढेकू के ताल पर हम दोनों नाचें…)

इस नाच में पहले स्त्रियां भी भाग लेती थीं, परन्तु अव वह प्रायः अपने

विशेष जनाना नाच 'घुरेई' में ही अपनी कला का प्रदर्शन करती हैं।

घुरेई :—भद्रवाह की पहाड़ी स्त्रियों का अपना लोकनाच है। स्त्रियां अपने अटल सुहाग की कामना करती हुई गौरी माता (पार्वती) की मूर्ति के आगे यह नाच पेश करती हैं। विधवाएं इस नाच में भाग नहीं लेतीं। ढेकू के समान ही घुरेई भी चान्दनी रात में खुले स्थान पर पेश किया जाता है। इसकी मुद्राएं ढेकू के समान ही होती हैं। नाच की लहर थोड़ी थोड़ी देर के बाद रुकती है। तब स्त्रियां बड़ी श्रद्धा के साथ एकसाथ गौरी माता के आगे सीस झुकाती हैं। इस समय गाई जाने वाली एक घुरेई का भाव यह है :—

'...गोरी माता तू बड़ी दयालु है,
मेरी यह 'घुरेई' स्वीकार करो,
मेरा सुहाग सदा बना रहे—गौरी मां !...'

कुछ अन्य नाच :—डुग्गर के इन मुख्य लोक नाचों के इलावा कुछ और भी नाच हैं, जो अपने अपने क्षेत्र में काफी लोकप्रिय हैं :—

1. छज्जा नाच :—लोहड़ी के त्योहार पर जम्मू शहर और पास पड़ोस में नाचा जाता है। नृत्य मण्डली के साथ नाचते मोर की आकृति का एक 'छज्जा' होता है, जिसे नाचते हुए 'नचाया' जाता है। डंडारस भी इस नाच का एक अंग है। छज्जा नाच की अपनी विशेष मुद्राएं नहीं हैं। भांगड़ा और राक एन रोल की कुछ मुद्राएं ही इसमें चलती हैं।

2. गिद्दा :—यह स्त्रियों का नाच है, जो मुख्यता पंजाब की देन है। विवाह के अवसर पर दूल्हा के घर पर पास पड़ोस की स्त्रियां मिलकर रात रात भर नाचती और 'बोलियां' गाती हैं। स्त्रियां घेरा बांधकर खड़ी हो जाती हैं और तालियां बजा बजाकर 'बोलियां' गाती हैं। उन में से दो स्त्रियां बीच में आकर भांगड़ा या 'किकली' की कुछ मुद्राएं पेश करती हुई कोई 'टप्पा' गा कर अपने स्थान पर चली जाती हैं। इसी तरह बाकी स्त्रियां भी बारी से आती हैं।

3. सोहाड़ी :—यह किशतवाड़ के उत्तर के पहाड़ी इलाके का

ऐक्शन सांग या श्रम नाच है। गेहूं, जौ या धान की सूखी पूलियों से अनाज़ अलग करने का यह अनोखा और कलापूर्ण ढंग है। अनाज की सूखी पूलियों को धरती पर रखकर कुछ मर्द एक तरफ, और कुछ औरतें दूसरी तरफ खड़ी हो जाती हैं। उनके हाथों में घुंघरू बंधा एक एक मोटा सा लट्ठ होता है, जिसे वह लोग 'छिणी' कहते हैं। एक ओर से मर्द एक साथ वह लट्ठ पूलियों पर मारकर एक साथ पीछे हट जाते हैं। फिर स्त्रियां भी इसी तरह लट्ठ चलाती हैं।

लट्ठ के घुंघरूओं के ताल पर कहीं कहीं गीत भी चलता है, जिस का भाव यूं है :'…कैसा भाग्यशाली था रामराज्य का समय, जब हल की एक एक लीक (furrow) से एक एक 'खार' अनाज निकलता था।

सोहाड़ी से मिलता सौराष्ट्र की कोली जाति का 'टपानी' नाम का एक श्रम-नाच है, जिसमें मर्द-औरतें मिलकर, हाथों में घुंघरू बंधे डंडे (टपानि) लेकर गाते हुए मकान की छत पर डाली मिट्टी कूटते हुए एक साथ आगे बढ़ते और पीछे हटते हैं।

———

इनका भी अपना एक जीवन है

—ज्योतीश्वर 'पथिक'

बुधल के पहाड़—!

पीर पंचाल की अनंत पर्वत श्रृंखला वर्फ से लदे हुए पहाड़ों के बीच बुधल गाड़ी का आखरी पड़ाव है !

यहां से शुरू होती है एक नई दुनिया। दूर दूर तक फैले हुए पहाड़ों पर बने टेढ़े-मेड़े रास्ते, पहाड़ों पर बनी हुई पठारें, जिन्हें आंचलिक भाषा में 'ढोक'* कहा जाता है। इन रास्तों पर धरती के बेटे गुज्जर और बकरवाल बे-खटके घूमते हैं, कभी कभी बरफानी तूफानों में फंस कर इन्हें अपनी जान से हाथ भी धोना पड़ते हैं। इन रास्तों से जाते हुए इन लोगों को भारी खतरों का सामना करना पड़ता है, कभी शेर और चीते, कभी वाघ और रीछ तथा कभी कोई अन्य जंगली पशु इन के लिये नई नई चुनौतियां खड़ी कर देते हैं। मगर प्राकृतिक सौंदर्य के आंचल में खेलता, हंसता और गाता हुआ इनका अपना एक अलग जीवन है, जो संघर्षों एवं यातनाओं से भरपूर होते हुए भी अनोखा और आकर्षक है।

गुज्जर एवं बकरवाल बुनियादी तौर पर एक खानाबदोश समुदाय हैं, अपने मवेशियों के लिये घास-चारे की तलाश में जगह-जगह

---

* ग्रीष्म काल में पहाड़ों पर बनी चरागाहें जहां पर गुज़्जर एवं बकरवाल अपना स्थाई डेरा जमा लेते हैं।

घूमते हैं। गरमियां शुरू होते ही यह लोग ऊंचे पहाड़ों पर चढ़ना शुरू कर देते हैं जहां इन्हें अपने मवेशियों के लिये हरी-हरी घास मिल जाती है। दूर दूर तक फैले हुए हरे-भरे पठारों के बीच वह अपने माल-मवेशियों को खुला छोड़ देते हैं और स्वयं किसी पेड़ की घनी छांव तले बैठ कर बांसुरी या अलगोज़े की तान छेड़ देते हैं, जो जंगलों की खामोशी को चीरती हुई दूर दूर तक फैल जाती है। या वह लोक गीतों के सुरों में खो जाते हैं। कैंची, बाग बैसाख और कुकु इन के प्रचलित लोक गीत हैं। मौसम, प्रिय, और विरह के गानों में अजीब सा रोमांच होता है। इन के गीतों में दर्द है, मर्म है जो जी को छू जाता है। सैफ मलूक और पंजाबी लोक गीत माहिया, टप्पा एवं बैत आदि इन के जन जीवन में रस घोलते हैं।

इश्क वालो रोग जो कालजा नां ला लेयो

इन खाना बदोशों के संघर्षमय जीवन में प्यार की टीस पाई जाती है। क्योंकि मालदार लोग इनकी प्रेयसियों को छीन लेते हैं और बेचारे दर्द के मारे पछताते रह जाते हैं। आर्थिक विषमताओं में घिरे हुए ये लोग प्यार-मुहब्बत के मामले में अक्सर प्रवंचना के शिकार रहते हैं और इसी महरूमी के एहसास ने इन अनपढ़ लोगों से ऐसे गीतों को जन्म दिलाया है जो किसी भी साहित्य की अनुपम थाती साबित हो सकते हैं...

विजली कड़कै मेरो दिल धड़कै पर शर्म की मारी कह न सकूं।
यो लिश्कै काली रातां मां मुच थ्हारो चेतो करायै मिन्नां॥

धरती के यह बेटे युगों-युगों से पिछड़ेपन एवं शोषण के शिकार रहे हैं। युगों-युगों से साहूकारों एवं बनियों के चंगुल में फंस कर इन्होंने जीवन भर की पूंजी को लुटा दिया है। ऐसी बात प्रायः दूसरे खानाबदोश समुदायों में नहीं मिलती। नट-बाज़ीगर, शिक्लीगर और दूसरे समुदायों के लोग भी खानाबदोश होते हैं मगर घाट-घाट का पानी पी लेने के बाद वह सभी बातों को समझते हैं, अपने हितों को पहचानते हैं और वह किसी शोषक साहूकार की चिकनी-चुपड़ी बातों में नहीं आते मगर यह बेचारे गुज्जर एवं बकरवाल साहूकारों की मीठी-मीठी बातों में

ग्राकर ग्रपना सब कुछ लुटा देते हैं। शायद किसी को विश्वास न आए मगर पुराने ज़मानों में एक सेर घी और एक सेर नमक को तराज़ू के पलड़ों पर बराबर रख कर तोला गया है। पच्चास पैसे किलो के नमक के बदले इन से 20 या 25 रुपये का घी ले लिया जाता था। इसी तरह इन्हें अगर 50 पैसे का नमक उधार में दिया जाता तो साहूकार एक ही वर्ष में इसको चौगुना बना देते। साहूकारों का गोजरी हिसाब अपने में काफ़ी रोचक है :—"पंज आनां का घी पंज आना घी का हो गया दस आना तै साल का बाद हो गयो पूरा सवा रपैया—"

ये भोले भाले गुज्जर एवं बकरवाल युगों-युगों से अनपढ़ता एवं शोषण के शिकार रहे। साहूकारों के हाथों अपनी पूंजी मामूली दामों पर फरोखत करते रहे। मोटे मोटे साहूकारों ने तो हवेलियां खड़ी कर लीं मगर यह लोग अपने झोंपड़ों को पक्का न कर सके। दूध, दही, पनीर—लोगों के लिये पौष्टिक आहार तो रहा मगर ये स्वयं अपने पेट की भूख न मिटा सके, अपने तन पर कपड़ों को न संवार सके। हमेशा कंगाली, दरिद्रता के शिकार रहे।—परंतु प्रकृति इन पर सदा मेहरबान रही, इनके तन के कपड़े फटे एवं मैले-कुचैले सही मगर इन लोगों का रूप-रंग तो मैला नहीं। गुज्जर ललनाओं का अपना अनुपम सौन्दर्य होता है। चूड़ीदार पाजामे, काले कनारी लगे कुर्ते, नाक, कानों में चांदी के आभूषण पहने जब कोई गुज्जर ललना बस्ती से गुज़र जाती है तो सभी की नज़रें उस पर टिक जाती हैं। सांसारिक दाव-पेचों से बे-नियाज़ यह ललनाएं अपने मवेशियों के साथ जब ऊंचे पहाड़ों पर किसी पेड़ के नीचे अपनी धुन में मस्त, गाती हुई बैठ जाती हैं तो सारे वातावरण में रोमांच सा छा जाता है :—

विच सरागे ढोक म्हारी नाले ठंडो पानी,
हम नां थ्हारे कोलों जाना अड़ेया,
देवेयों कोई निशानी··· ··· ··· ···।

(सरागे पठार पर हमारा डेरा है जहां का पानी बहुत ठंडा है। हम साजन तुम से दूर जा रहे हैं अतः हमें कोई निशानी दे दो।)

पीर पांचाल पर्वत माला के दामन में पुंछ से भद्रवाह-किश्तवाड़ तक हर पहाड़ी पठार पर इन दिनों गुज्जर एवं वकरवालों की चहल-पहल रहती है। यह लोग यहां पर अपने डेरे जमा लेते हैं। अधिकांश गुज्जर-वकरवाल पुंछ-राजौरी के रास्ते पीर पांचाल पार कर के कश्मीर में शुपियां चले जाते हैं। पुंछ, राजौरी के पहाड़ी क्षेत्रों के सौंदर्य का वर्णन इन के गीतों में प्रायः मिलता है :—

पुंछ-राजौरी वतन हमारो सव थावां कोलों चंगो,
हो गया सजना दूर म्हारा लगो थ्हारो मंदो।

(हमारा देश पुंछ, राजौरी सभी स्थानों से उत्तम है। मगर साजन हमारा हमसे दूर गया है। हमें उसकी याद सताती है।)

प्रकृति के रमणीक वातावरण में रहने वाले ये धरती के बेटे जव अपने मवेशियों के साथ मस्त होते हैं तो प्राकृतिक सौंदर्य का भरपूर आनंद लेते हैं। अपने क्षेत्र के नदी, नालों, पेड़ों, पहाड़ों से इन्हें वहुत प्यार है, क्योंकि इन्हीं की गोद में ये रहे, पले-वढ़े और जवान हुए। और यहीं पर इन्होंने उम्र गुज़ार दी :—

"अज कल विच राजौरी ठंडा पानी हो,
कसम खुदा की तुम्हारा वाज पराए ने,
दिल न म्हारो लगै... ... ...।"

(प्रिय आज कल राजौरी के नदी नालों का पानी ठंडा है, मगर खुदा की कसम तुम्हारे बिना किसी काम में हमारा दिल नहीं लगता।)

इस समुदाय में यह वात देखने में आई है कि यह लोग अपनी उम्र काफी लम्बी भोगते हैं। पहाड़ी क्षेत्रों में ऐसे गुजर-वकरवाल प्रायः मिलेंगे जिनकी आयु प्रायः सौ वर्ष से एक सौ तीस वर्ष तक होती है। मेंहदी से रंगी दाढ़ी में इन लोगों के दांत सौ वर्ष के वाद पुनः जन्म लेते हैं। इस बूढ़ी अवस्था में भी ये लोग लम्बे-लम्बे फासिले तै करते हैं और शहरी क्षेत्रों के जवान लोगों से अधिक हृष्ट-पुष्ट हैं। शहर के शोर-शराबे और तनावों से परे इनका जीवन प्रकृति की गोद में पलता है। स्वच्छ जल-वायु, सादा आहार इन के जीवन की रक्षा करते हैं और पहाड़ी यात्रा की कठिन कसरत इन्हें हृष्ट-पुष्ट वना देती है।

गुजर लोग खानावदोश तो ज़रूर हैं मगर इन की खानावदोशी भी अजीब है। यह लोग पहाड़ी एवं मैदानी क्षेत्रों में अपने अपने डेरे डाल कर रहते हैं। हर कबीले की अपनी अपनी ढोक है जहां ये लोग ग्रीष्म काल में घास चारे की तलाश में निकल जाते हैं। इन में जुलाहे भी हैं जो इनके लिये कपड़ा बुनते हैं और मोची एवं चर्मकार भी जो इन के लिये जूते इत्यादि तैयार करते हैं तथा करियाना एवं मन्यारी फरोश भी हैं जो इनके लिये रोजमर्रा प्रयोग में आने वाला सौदा-सुल्फ जुटाते हैं। यों कहिये कि यह समुदाय अपने आप में एक सम्पूर्ण समाज है, और जब यह चलते हैं तो एक पूरा समाज चलता है। पहाड़ों पर प्रवास के दौरान ये पहाड़ी पठारों पर अपने अपने घर बना लेते हैं और लगभग पांच मास तक इन्हीं घरों में रहते हैं। दिन को यह लोग अपनी गाएं एवं भैंसें लेकर चराने के लिये जंगल में निकल जाते हैं। पेड़ों के नीचे बैठ कर या तो ट्रांज़िस्टर सुनते हैं या मीठी सुर में तान छेड़ देते हैं। और वातावरण में रोमांच भर देते हैं :—

आ सजना तिन्ना गल दस्सों,
आई बसाख दी बहार मुड़ के,
पगे भेड़-बकरी नाले माल मारों,
जिनां बसगए सैरी मस्तान मुड़ के—

(आजा साजन बैसाख की बहार लौट आई है। भेड़ बकरी एवं दूसरे मवेशी, सैरी मस्तान की पहाड़ी पर दोबारा आकर बस गए हैं।)

प्रकृति की गोद में रहने वाले इन धरती के बेटों की संस्कृति भी प्रकृति की गोद में पलती है। बैसाख (अर्थात बसंत ऋतु के गीत) कुकु, बैत, कैंची इत्यादि सभी विधाओं का सम्बन्ध प्राकृतिक सौंदर्य एवं जीवन के रोमांच से है। इन गीतों के कुछ बंद देखिए :—

दरशी का बनां विच सोह्नी सोह्नी ढोक,
गेयो मेरो मुंशी रोवें सारा लोक—लगी कैंची गमा की।
दरशी का बनां विच कोंकां को उडार,
गेयो मेरो मुंशी रोवां ज़ार ज़ार—लगी कैंची गमा की।

× × ×

कोरो घरो ते भरु हू पानी ,
रोतां रोतां अख होई कानी ।

कदे सुख आराम न पायो ,
मेरो चन ग्यो अज नेई आयो ।

पई धुंद ते आई वरसात ,
रोतां रोतां ही कटों हा रात ।

डेरो गमां ने दिल मांह लायो ,
मेरो चन क्यों आज न आयो ।

× × ×

बेहलो मुड़िये सजना गयो है आराम ,
इन्हां परदेसियां की सुवह भी है शाम ,
सजनां बेहलो मुड़िये…

बेहलो मुड़िये सजना दिल है गमगीन ,
इन्हां परदेसियां को नेईं कोई जीन ,
सजना बेहलो मुड़िये…

बेहलो मुड़िये सजना डाहडो आयो रोन ,
इन्हां परदेसियां को होर है कौन ,
सजना बेहलो मुड़िये…

गुजर समाज में वधु की नियति किसी और समुदाय से अलग नहीं। अपने नये घर में सास, ननद के तानों, वाबुल के देश की याद, प्रियतम की विरह सभी जीते जागते और अहसास एवं अनुभूति रखने वाले समाजों एवं समुदायों में एक समान है। काग अर्थात कौवे को संदेश वाहक माना गया है। इस गीत में काग से वाबुल के घर संदेश ले जाने का अनुरोध किया गया है :—

कालेया कागा उडेयो ओ तू जाईये—
मेरा वाबुल के देश सोहनेया कागा रे ,
मंडेरो नेईं बोलिये म्हारे वाहर सोहनेया कागा रे ,
आतां नां दूंगी मोतियां की चोग सोहनेया कागा रे ।

प्रकृति की गोद में पलने वाले धरती के बेटे इन गुजरों एवं बकरवालों के लिये 'कुकु' एवं 'बैसाख' को भारी महत्व प्राप्त है :—

कुकु तेरा सिर पर के है सोहनो चोट,
आयो वसाख कुकु सुने सारा लोक,
फिराकिया कुकु बोल

आयो है वसाख ढोकें रैया माल,
नीला नीला तलना कुकु बोले नालो नाल,
परदेसिया कुकु बोल

इन खानाबदोश लोगों के लिये 'बैसाख' को भारी महत्व प्राप्त है क्योंकि इन दिनों यह लोग पहाड़ी ढोकों की ओर जाने के लिए कूच करते हैं। बैसाख की रमणीकता इन पंक्तियों में भली भांति झलकती है :—

आता बैसाख की के कुछ निशानी,
नीला नीला तल्ला ठंडा ठंडा पानो,
आता बैसाख नामो आ भी तलबें,
योह आयो हम जीतां ना बसाख।

इसके विपरीत जव असूज का महीना आता है और यह लोग इन पहाड़ी ढोकों से मैदानी क्षेत्रों में कूच करने लगते हैं। जो डेरा इन्हों ने बड़े चाव एवं अरमानों के साथ सजाया होता है उसे अब छोड़ना पड़ा है। निम्नलिलित 'सीरश' गीत में ये भाव पूरी तरह उद्गारित किये गये हैं।

चढ़ते असूज गुज्जर होई बैठे ना तैयार,
रब्बा मेरेया रे—
भाईयो मेरेयो डेरा लाना है रोझां क नाल,
रब्बा मेरेया रे—

इस गीत में उनकी नियति एवं खानाबदोशी को पूरे तौर पर उभारा गया है। क्योंकि असूज महीने में वह पहाड़ों एवं नदी नालों को छोड़ कर मैदानी इलाकों की ओर चलना शुरू कर देते हैं। सारा सामान घोड़ों पर लाद कर अपनी गायों एवं भैंसों के साथ वे लोग एक कारवां की सूरत में मैदानों की तरफ चलना शुरू कर देते हैं। कठुआ, बसोहलो,

भद्रवाह, गूल, महोर, रियासी, राजौरी, पुंछ यहां तक कि पुंछ से लेकर किश्तवाड़, तक सभी की सभी पहाड़ी ढलवानों पर गुजरों के कई डेरे चलते हुए मिलते हैं। जहां कहीं रात हुई इन्होंने अपने खेमे गाड़ लिये और खाना पकाना शुरू कर दिया। घोड़े माल मवेशी और जंगली कुत्ते--वस इनकी यही पूंजी है।

इनके जीवन में संघर्ष, पीड़ा, मर्म, यातना इत्यादि होते हुए भी इनका जीवन कई रंगीनियों से भरपूर है। इन के पहनावे में आकर्षण है। रूप है, यौवन है और इस के साथ ही इनका चलता हुआ चरखा इन्हें "बैंड" वजाता सुनाई देता है :—

ईवे चलतो है चरखो तेरो,
जीवें किदे बैंड वजदा—

गुजर समुदाय की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के वारे में आम धारणा यह है कि यह शब्द गौचर से वना है और प्रायः गुज्जर यही मानते हैं कि वे चंद्रवंशी समुदाय से सम्बन्ध रखते हैं और धीरे धीरे वे लोग गुजरात की ओर फैल गए। इस क्षेत्र का नाम पहले राजपुताना था वाद में गुर्जारा पड़ गया विंगले, कैन्निघम और चाड़क द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'एन इंट्रोडक्शन टू द' हिस्ट्री एंड कल्चरज़ आफ डोगराज़' के अनुसार :' 'उदाहरणतः शब्द गुजर ही ले लीजिये जिसका रूप गुर्जारा है। यह निस्संदेह एक कवायली नाम है, जो उन लोगों की धरती है जिसे अब गुजरात कहा जाता है। (पृ० 69) विंगले इत्यादि ने जिस गुजरात की निशानदेही की है वह गुजरात संभवतः पश्चिमी पाकिस्तान का वह क्षेत्र है जो जम्मू प्रांत की सीमाओं के साथ लगता है। यह वात कुछ हद तक निम्नलिखित पंक्तियों से भी स्पष्ट हो जाती है :—
"दोनों समुदायों की नस्लों का आकर्षण इस वात से स्पष्ट हो जाता है कि डोगरी और गोजरी वोलियों में गुग्गा मंडलीक की लोकप्रियता एवं अर्चणा एक समान होती है। संभवतः दोनों नस्लें जेहलम और रावी नदियों के ऊपरी क्षेत्रों में एक साथ फैली हुई थीं जो कि आठवीं शताब्दी में गुर्जारा-प्रतिहारा राज्य एवं पश्चिमी भारत में अरव आक्रमणों के समय की वात है (पृ० 62)।

जेहलम नदी के साथ लगने वाला गुजरात क्षेत्र पश्चिमी पाकिस्तान वाला गुजरात है जो जम्मू के छम्ब पलांवाला एवं भिंवर क्षेत्रों के साथ लगता है।

इस बारे में युवा शोधकों का एक और मत भी है। यह लोग मध्य एशिया की नस्लों के साथ इन का सम्बन्ध जोड़ते हैं। मुफ्ती अब्दुल गनी शाशो* ने गुजरा और गोजरी (अकादमी संकलन 1978) में अपने लेख 'मशरके बुस्ता की तारीख पर गुजर एहद के असरात में लिखा है: "डा० कोरैंक ने इन की बीस खोपड़ियों पर अनुसंधान करके यह बात सिद्ध करने का प्रयास किया है कि हिन्दुस्तानी सिरों की खोपड़ियों से ये मिलते जुलते हैं और डा० सिप्पों फ्रांसिसी की राय में इन का मूल भारत अर्थात सिंध एवं मुल्तान से है और यह समुदाय संस्कृति प्रिय और खानाबदोश समुदायों पर आधारित है। जो खानाबदोश समुदाय हैं वे बकरियों, घोड़ों, खचरों, ऊंट, गाएं, भैंसों इत्यादि के साथ खेमे लेकर घूमते फिरते हैं और योरुप में दूसरी कौमों से शादी करने के कारण इन में काफी हद तक तबदीली पैदा हो चुकी है। इन की भाषा से प्रतीत होता है कि वे मूलतः भारतीय हैं।...कुछ लोगों का विचार है कि बंगाली बडपास और बंजारे समुदायों के साथ इनका बहुत मेल है और मैसो-ओस कहता है कि इन में काफी समानता है कि इनके विचार में उन्होंने ईसा से 1000 वर्ष पूर्व भारत छोड़ा...(पृ० 99)। इसी तरह ये पंक्तियां भी बहुत महत्वपूर्ण हैं: "....कुछ इतिहास-कारों का विचार है कि ये प्राचीन मिश्रियों की नसल हैं और अंगरेज़ इनका जिप्सी नाम से वर्णन करते हैं...।"

परन्तु जिन लोगों की हम बात कर रहे हैं वे इन समुदायों से अलग अपनी एक जीवन धारा बना चुके हैं और भारतीय रस्मों एवं रिवाजों को पूरी तरह अपना चुके हैं। इनका मूल मिश्री हो या भारतीय इस बात का इतना महत्व नहीं भले ही ये जिप्सी हों मगर भौगोलिक परिस्थितियों के कारण अब यह कबीले अपनी एक अलग जीवन धारा बना चुके हैं। इनका अपने में एक सम्पूर्ण समाज है, जो अन्य खाना-

---

* वर्तमान अध्यक्ष फारसी विभाग कश्मीर विश्वविद्यालय।

वदोश समुदायों एवं कवीलों में नहीं पाया जाता। दूसरे श्री शाशी के मत में यह लोग तुर्क थे जिनकी सभ्यता इस्लाम से पनपी और उनकी अधिकांश संख्या गुज्जरों से है मगर यह बात भी पूरी तरह ठीक नहीं क्योंकि खटाना, कटारिया, विकल, सोलंकी, भट्टी या भाटिया समुदाय हिन्दुओं में भी पाए जाते हैं और ये लोग अपने आप को गुजर कहलाने में गर्व अनुभव करते हैं।

पुस्तक सूचिका :—

1. एन इंट्रडक्शन टू द' हिस्ट्री एंड कल्चर आफ डोगराज़ (प्र० अजय प्रकाशन, जम्मू, पठानकोट) : विगले, कैंन्निघम, चाड़क पृ० 200
2. गुजर और गुजरी 1978। मुहम्मद युसुफ टेंग, सरवरी कसाना, नसीम पुंछी प्र० जम्मू एंड कश्मीर अकैडमी आफ आर्टस, कल्चर एंड लैंग्वेज़िज़ पृ० 119
3. शीराज़ो :—मुहम्मद यूसुफ टेंग, सरवरी कसाना, नसीम पुंछी प्र० अकादमी; पृ० 100
4. गोजरी ज़वान वा अदव : मुहम्मद असदुल्ला वानी प्र० अका. पृ. 91

सूचक :—

1. कृष्ण कुमार 'खाकी', राजौरी
2. गुलशन कसाना, राजौरी
3. अब्दुल करीम, बुधल (राजौरी)

कश्मीरी वस्त्राभूषण : एक परिचय

—ज़रीफ अहमद

सामान्य ग्रामीण तथा नागरिक स्त्रियों की वेशभूषा लगभग समान ही है। कश्मीरी स्त्रियों की वेशभूषा को चर्चा हम सर्वप्रथम कुमारी कन्याओं के माध्यम से करते हैं। ये 'कुर्तनि' (मर्दाना कमीज़) के ऊपर फिरन पहनती हैं तथा इन के सिर पर टाकोनि होती है।

टाकोनि—यह रंगदार कपड़े की वनाई गोल टोपी होती है जिस पर तिल्ला अथवा सिलमा लगा होता है। टाकोनि के ऊपर गहरे रंग का कपड़ा सुई के साथ सिला होता है अथवा वकसुए के साथ वन्द किया गया होता है। इस (टाकोनि) के आगे मस्तक पर तिकोण, वृत्ताकार अथवा अर्धचन्द्राकार 'तुमारह' (टीका) लटका दिया जाता है तथा ठोडी के नीचे से एक डोरी लगाकर उसको कानों के ऊपर से लेकर टाकोनि के साथ जोड़ कर एक गलतन (एक प्रकार का आभूषण) भी लटकाया जाता है। यह गलतन चांदी अथवा रेशमी धागे से, जो एक रुपये के सिक्के के आकार के वरावर होता है, मस्तक के दोनों ओर (कानों से थोड़ा ऊपर) लटकाया जाता है।

'तुमारह' चांदी का वना होता है जिसमें दोनों ओर से एक से दो इंच तक लम्वी लाल रंग की डोरी डालकर टाकोनि के आगे मस्तक पर सजाया जाता है।

चांदी की गलतन को अत्यधिक सुन्दर वनाने के लिये उसमें

छोटे-छोटे घुंघरू लगाये जाते हैं तथा सूती अथवा रेशमी धागे की गलतन में विभिन्न प्रकार के (सस्ते नकली) मोती लगाये जाते हैं।

वोड (केश)—कश्मीरी कुमारी कन्याएं अथवा विवाहित स्त्रियां अपने केशों को इस प्रकार संवारती हैं मानो पतले धागों से बनाई डोरी हो। फिर इस केशपाश को सीमन्त से सीधे कानों के पीछे से लेकर एक चोटी में बांध दिया जाता है। केशों को इस प्रकार संवारने में निस्सन्देह काफी समय लगता है किन्तु इस प्रकार से संवारे केश दो तीन महीनों तक ज्यों के त्यों संवरे रहते हैं।

गहनु (आभूषण)—आभूषणों के रूप में ग्रामीण कुमारी कन्याओं का ऐसा कोई अलंकार नहीं है जो विशेष चर्चा का विषय हो। वे कलाइयों में चूड़ियां, उंगलियों में विभिन्न प्रकार के रत्नों से युक्त अथवा कभी-कभी रत्नों से हीन अंगूठियां पहनती हैं। इसके अतिरिक्त कण्ठ को विभिन्न प्रकार के मोतियों से युक्त माला से विभूषित करती हैं तथा कानों में चांदी के बने अथवा विभिन्न प्रकार के मोतियों से युक्त झुमकों वाले कर्णफूल पहनती हैं।

विवाहोपरान्त कश्मीरी कृषक स्त्रियां वेशभूषा के रूप में कुर्तनि, रंगदार ऐज़ार (सिलवार) तथा फिरन पहनती हैं एवं सिर पर 'कसावा' रखती हैं। यह कसावा एक से डेढ़ गज़ तक लम्बे 'अलवान' (पश्मीने) को तह करके टाकोनि के ऊपर पगड़ी की तरह बड़ी महारत के साथ बांधा जाता है। इस पश्मीने की पगड़ी को टाकोनि के साथ बन्द रखने के लिये उसमें मोटे सिर वाली सुइयां लगाई जाती हैं। तत्पश्चात उस पर 'पूच' को (दो गज़ लम्बा एक विशेष प्रकार का कश्मीरी रूमाल जिसको सिर पर बांधा जाता है) इन्हीं सूइयों के साथ इस प्रकार बन्द किया जाता है कि कसावा सिर पर बराबर बना रहे और इस पर सूइयों के साथ बन्द रखी पूच फिरन की लम्बाई के बराबर लटकती रहे एवं उसके दोहरे किये कोण दोनों कन्धों का साया बने रहें। कसावा-पूच को इस प्रकार दोहरा किया जाता है कि इस की एक तह दूसरी तह से लम्बी रहे। तत्पश्चात् इस को अञ्जली में बन्द करके इसमें सिलवटें डालकर कसावा के ऊपर रखा जाता है। इस पूच के चारों ओर बूटे-

दार कपड़े की चौथाई इंच चौड़ी किनारी लगाई जाती है। कभी-कभी नवोढ़ा के लिये बनाई गई पूच की किनारी पर काले रंग का फीता (कण्डा) लगाया जाता है। इस प्रकार की पूच को 'दोविदार पूच' कहा जाता है।

वोन कसावा--वोन कसावा सिर पर पूच के नीचे रहता है तथा 'थोद कसावा' सिर पर पूच के साये में उत्पल (गोल पत्थर) के समान होता है। इसमें उपर्युक्त सुइयों के अतिरिक्त चांदी की बनी विभिन्न आकारों की सुइयां भी लगाई जाती हैं जैसे यमवरयल पुष्प के आकार की, परवाने के आकार की, सोंचल के पुष्प के आकार की आदि। इस प्रकार की सुईयों को वड़ी सुइयां कहा जाता है और ये पूच के ऊपर सामने मस्तक पर लगाई जाती हैं।

मुनुल (गर्म फिरन)—कश्मीरी पुरुष तथा स्त्रियां, दोनों ही शीतकाल में मुनुल पहनते हैं। जो गर्म ऊनी चादर को मालीदा करने के पश्चात् बनाया जाता है। मुनुल के भीतर सूती कपड़े का फिरन पहना जाता है जिसे ग्रामीण लोग 'पोछ फिरन' तथा नागरिक लोग केवल 'पोछ' कहते हैं। स्त्रियां विभिन्न रंगों के मुनुल पहनती हैं किन्तु पुरुष अधिकतर गन्दुमी रंग का मुनुल पहनते हैं। इस के अतिरिक्त स्त्रियों के मुनुल के नीचे किनारों पर या तो कण्डा (फीता) लगा होता है अथवा तिल्ले की बनी अत्यन्त पतली डोरी लगी होती है।

पुलहोर—धान के खेतों में उगी घास की पतली रस्सियों से जालीदार चप्पल जैसी बनाकर, इसे पैरों में पहना जाता है। शीतकाल में पैरों को शीत से बचाने के लिये इसके भीतर गर्म ऊनी कपड़े के छोटे-छोटे रुमाल रखे जाते हैं जिन्हें 'खौरदीज' कहा जाता है।

खिलहोर—यह भी पुलहोर की तरह ही बनाया जाता है। अन्तर केवल इतना है कि यह पुलहोर की अपेक्षा पतली एवं सुन्दर रस्सियों से वड़े कलापूर्ण ढंग से वनाया जाता है।

खाव (खड़ाऊं)—खाव पैरों में पहनी जाती है। यह अखरोट अथवा वैद की लकड़ी से पैरों के वरावर बनाई जाती है और इसकी मोटाई एक इंच अथवा उस से कुछ ज़्यादा होती है। इस पर निवार

अथवा चमड़े की पट्टी लगाई जाती है।

ख़्राव होर (खड़ाऊं का एक विशेष प्रकार)—यह भी अखरोट अथवा वेद की लकड़ी की वनी होती है। यह दो से तीन इंच तक ऊंची होती है और ख़्राव की अपेक्षा लम्बी तथा चौड़ी होती है। इस पर चमड़े अथवा घास की पट्टी लगी होती है और कदाचित इस प्रकार की खड़ाऊं पर या तो रोगन किया होता है अथवा विभिन्न प्रकार से खुदाई और चित्रकारी की गई होती है। पुलहोर, खिलहोर, ख़्राव तथा ख़्राव-होर, ये पुरुष तथा स्त्रियां दोनों ही पहनते हैं। इनके अतिरिक्त विभिन्न प्रकार की चप्पलें भी सामान्य रूप से प्रयोग में लाई जाती हैं।

इस प्रकार की वेशभूषा को धारण करने वाली स्त्रियां प्रायः निम्नलिखित अलंकारों द्वारा अपना शृंगार करती हैं :—

कनवाजि (कर्णवल्लिकाभूषण)—यह चांदी की वनी लगभग सात इंच वृत्ताकार कानों में पहनने वाली वाली है जिस के एक किनारे पर छोटे-छोटे घुंघरू लटका दिये जाते हैं। इस प्रकार के कर्णाभूषण स्त्रियां अपने एक-एक कान में कोई छः से वीस तक पहनती हैं। इस प्रकार के कर्णाभूषण इतने भारी होते हैं कि इन के वोझ से स्त्रियों के कान दो-ढाई इंच नीचे लटक जाते हैं और यहां तक कि कभी-कभी उनके कान कट भी जाते हैं।

हटिफोल या हलकवन्द (कण्ठ में पहनने वाला आभूषण)—यह चांदी के वने तीन इंच चौड़े तथा वारह से चौदह इंच लम्बे वृत्ताकार, षटकोण अथवा तिकोण टुकड़ों को कुण्डों से वन्द करके वनाया हुआ कण्ठ में धारण करने वाला अलंकार है। हटिफोल में लगे चांदी के इन टुकड़ों की संख्या पांच या छः होती है तथा इन पर विभिन्न प्रकार की नक्शा-निगारी की होती है। इसे लाख पर चढ़ा कर विभिन्न प्रकार के नकली रत्नों से अलंकृत भी किया जाता है। इन रत्नों का मूल्य अधिक नहीं होता है। कश्मीरी भाषा में इस प्रकार के रत्नों को 'चूनि' कहा जाता है।

लदरह माल—यह रेठों के वरावर मोटे तथा कम मूल्य वाले नकली मोतियों को पिरो कर वनाई हुई माला होती है जिस में क्रम से

एक बड़ा दाना तथा एक छोटा दाना पिरोकर दो-दो दानों के बीच में पीतल के बने पांच-पांच पत्ते जैसे पिरोये जाते हैं। ये दाने नकली रत्न के होते हैं जिन्हें कश्मीरी भाषा में 'अकीद' कहा जाता है। इस प्रकार की माला अधिकतर ग्वाल स्त्रियां पहनती हैं।

हन्ज़रह—यह चांदी अथवा एलमोनियम का बना कड़े की तरह वृत्ताकार होता है और इस की मोटाई आधा इंच होती है। इसका प्रचलन अधिकतर पहाड़ी लोगों तथा तिलेल वादी में रहने वाले दरद वर्ग के लोगों में है।

उपर्युक्त आभूषणों के अतिरिक्त नवविवाहित स्त्रियां निम्न प्रकार के कुछ अन्य आभूषण भी धारण करती हैं :—

तारखमाल—इस प्रकार की माला चांदी के बने छोटे-छोटे तारों को सूत्रबद्ध करके बनाई जाती है और इस को कण्ठ में धारण किया जाता है।

डोलन माल—डोलन चांदी का तीन इंच लम्बा तथा डेढ़ इंच चौड़ा मुरब्बाकार आभूषण होता है जिस पर विभिन्न प्रकार से नक्शा-निगारी की होती है। डोलनमाल में ये ही छः डोलन तथा बीच में चांदी का बना गुर्दा जैसा पिरोया होता है। ये डोलन भीतर से खोखले होते हैं तथा वज़न के लिये इनमें लाख अथवा कपड़ा भर दिया जाता है।

रोपयिमाल—इस प्रकार की माला अंग्रेज़ी-साम्राज्य में चलने वाले एक रुपये के चांदी के सिक्कों को आपस में कुण्डों द्वारा बन्द करके बनाई जाती है। इस एक सिक्के का वज़न एक तोला होता है तथा एक माला में इन की संख्या दस या बारह होती है। सम्भवतः इस सिक्के का वज़न एक तोला होने के कारण ही एक तोले का पर्यायवाची शब्द रुपयभर चल पड़ा।

खालिमाल—'खालि' कश्मीरी भाषा में खोबानी अथवा बादाम की गिरी को कहते हैं। अतः सिद्ध है कि खोलिमाल चांदी के बने गिरी के आकार के दानों को कुण्डों से जोड़ कर बनाई जाती है। एक माला

में इन की संख्या तीस तक होती है।

वादाम माल—यह माला चांदी के वने वादामों की वनी होती है तथा एक माला में इनकी संख्या वीस से तीस तक होती है।

वोकवचि माल—इस प्रकार की माला चांदी के गुर्दों को आपस में जोड़ कर वनाई जाती है। एक माला में ये चार या छः गुर्दे तथा वीच में एक चौकोर तावीज़ भी पिरोया जाता है। कभी-कभी तावीज़ के वदले इसमें एक डोलन डाला जाता है। इस माला में रखे डोलन में भी वज़न के लिये लाख अथवा कपड़ा भरा होता है। इस प्रकार की माला प्रायः सभी स्त्रियां धारण करती हैं।

वटु डवल रोपय—यह ताम्बे का वना एक इंच से कम वृत्ताकार सिक्का होता है जिसका मूल्य अंग्रेजी साम्राज्य में चलने वाले एक रुपये के सिक्के का चौंसठवां भाग होता था। इस पर एक ओर से वर्तानिया के राजा का चित्र तथा दूसरी ओर संवत् तथा मूल्य अंकित होने के अतिरिक्त एक छोटी सी पुष्प लता भी अंकित होती है।

गुदिदार पोंस—इस का मूल्य भी एक रुपये का चौंसठवां भाग होता है। किन्तु इस के मध्य में एक वड़ा छिद्र होने के कारण इस पर राजा की तस्वीर को चित्रांकित नहीं किया जा सकता है। अतः इस पर एक ओर से एक छोटी सी पुष्पलता अंकित होने के साथ-साथ दूसरी ओर मूल्य तथा संवत् अंकित होता है।

दोनिनि माल (दो आने के सिक्कों की माला)—इस प्रकार की माला में अंग्रेज़ी साम्राज्य में चलने वाले दो आने के सिक्के होते हैं जो या तो पीतल के अथवा सफेद धातु के वने होते हैं। इस एक सिक्के का मूल्य आज के वारह पैसों के वरावर होता है। इस पर भी एक ओर वर्तानिया के राजा का चित्र तथा दूसरी ओर संवत् तथा मूल्य अंकित होता है।

चोनिनि माल (चार आने के सिक्कों की माला)—इस प्रकार की माला में भी एक प्रकार के सिक्के होते हैं जिस एक सिक्के का मूल्य सोलह पैसों के वरावर होता है। इस सिक्के पर एक ओर से शेर का

चित्र तथा संवत् एवं दूसरी ओर राजा का चित्र अंकित होता है। इन सिक्कों को कुण्डों से आपस में जोड़ कर माला बनाई जाती है।

तावीज़—इस की प्रथा ग्राम तथा नगर दोनों में है। यह किसी धार्मिक पुरुष का दिया होता है जिसको चांदी अथवा कपड़े में बन्द करके तावीज के समान पहना जाता है।

उपर्युक्त सिक्कों के अतिरिक्त और भी कई प्रकार के ऐसे सिक्के देखने को मिलते हैं जिन को माला में पिरो कर पहनने की प्रथा है। जैसे टक (एक पैसे का सिक्का), पौण्ड, अठन्नी आदि। इस के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के बटन, मोती, तथा सीपी आदि की बनाई मालायें भी पहनी जाती हैं।

ग्रीस्य पौशाख (कृषकों की वेशभूषा)—कृषक आम तौर पर काम-काज के समय लम्बा कुर्तानि तथा जांघिया पहनते हैं। सामान्य रूप से एक कृषक की वेशभूषा के अन्तर्गत 'फिरन' तथा 'एज़ार' (एक विशेष प्रकार की सिलवार जो घुटनों से नीचे तंग तथा घुटनों के ऊपर काफी खुली होती है) और टोपी पहनते हैं। यह टोपी पुराने अथवा नये रंगीन कपड़े के चार तिकोण टुकड़ों को आपस में सी कर बनाई जाती है अथवा कभी-कभी सादी टोपी भी बनाकर पहनी जाती है। कभी-कभी टोपी पर सूती धागे से कढ़ाई भी की गई होती है। कृषक शीत-काल में फिरन के ऊपर गर्म ऊनी चादर ओढ़ते हैं तथा फिरन के अन्दर कांगड़ी रखते हैं।

कृषकों की टोपी कई प्रकार की होती है जिस पर बेलबूटे आदि काढ़े होते हैं किन्तु इस प्रकार कढ़ाई की हुई टोपी की प्रथा केवल ग्रामीण धनी कृषकों तक ही सीमित है। इस प्रकार की टोपी निम्न प्रकार से बनाई जाती है :—

सोचलिपोशदार टूपि—इस प्रकार की टोपी पर लगभग एक हज़ार छिद्र बने होते हैं जिन को काज के समान सिला जाता है।

ब्यलिदार टूपि—इस पर रफ़ूगर बड़ी ही बारीकी के साथ सुई से सोंचल के पुष्प काढ़ता है।

सोज़नि टूपि—इस प्रकार की टोपी पर रफ़्गर सूती अथवा रेशमी धागों से विभिन्न प्रकार से कढ़ाई करता है।

फतिलदार टूपि—इस प्रकार की टोपी पर एक-एक इंच की दूरी पर मशीन से छः-छः सिलाइयां लगाकर सिलाई के ऊपर रुई लपेट कर उसे दो सिलाइयों के मध्य के रिक्त स्थान में भर दिया जाता है।

वानि पोशाख (किरयाना बेचने वालों की वेशभूषा)—ग्रामों में किरयाने की दुकान करने वालों की गणना धनी तथा कुलीन लोगों में की जाती है। इन का आचार-व्यवहार तथा वेशभूषा सामान्य कृषकों से भिन्न होती है। ग्रीष्मकाल में ये लोग सफेद लठे की कुर्तनी, लठे का एज़ार तथा कुर्तनि के ऊपर एक वासकाट पहनते हैं। शिशिर में भी लोग ऐसी ही वेशभूषा को धारण करते हैं किंतु वह सर्द कपड़े की न होकर गर्म कपड़े की होती है। इसके अतिरिक्त शिशिर में ये लोग फिरन भी पहनते हैं, फ़िरन के ऊपर दोनों कन्धों पर चादर (सफेद कपड़े की बनाई चादर) अथवा गर्म ऊनी चादर ओढ़ते हैं जिस का एक सिरा पीछे की ओर तथा एक सिरा आगे की ओर लटका रहता है। ये लोग सिर पर अरखचीन (पतले कपड़े की टोपी जिसे पगड़ी के नीचे पसीने को रोकने के लिये सिर पर पहना जाता है) पहनते हैं तथा इसके ऊपर सफेद मलमल की पगड़ी सात तहें लगाकर बांधते हैं। किसी ज़माने में कुछ ग्रामीण एवं नागरिक आस्तिक वृद्धजन पूरे एक-एक थान मलमल की पगड़ी डांवाडोल तरीके से बांधते थे जिसे 'दस्तार पेज' कहते हैं। कई वृद्धजन तथा धनी पुरुष शिशिर में पश्मीने अथवा पतली ऊनी चादर की पगड़ी भी बांधते थे।

पातव या पातवहोर—यह ग्रामीण लोग स्वयं ही कपड़े से बनाते हैं। इस की चौड़ाई अढ़ाई गिरह तथा लम्बाई दो गज तक होती है। इसको टांगों पर टखनों से लेकर घुटनों तक बांधा जाता है। विशेष कर लोग इसे लम्बी पैदल यात्रा पर जाते समय टांगों पर बांधते हैं क्योंकि इसकी विशेषता यह है कि इस को बांधने पर पैदल यात्री थकान महसूस नहीं करता।

सोनवस (स्वर्णाभूषण)—स्वर्णाभूषण समस्त नागरिक स्त्रियां

पहनती हैं। ये निम्न प्रकार के होते हैं :—

तावीज़—सोने का तिकोणे आकार का होता है जिस पर छोटे-छोटे विभिन्न रंगों के रत्न लगे होते हैं। इसकी लम्बाई तीन इंच तक और चौड़ाई डेढ़ इंच तक होती है। इस को सोने की जंजीर में डाल कर मस्तक के दोनों ओर दो-दो की संख्या में लटका दिया जाता है। इस के अतिरिक्त मस्तक पर एक-एक रुपये के सिक्के के बराबर टीका तथा उस पर 'हङ्गतावीजों' वाली माला बांधी जाती है। तावीज़ के कोनों पर छोटे-छोटे मोती लटका दिये जाते हैं जिन्हें 'चमकुन' कहा जाता है।

हङ्गतावीज़—इसे सोने का तीन इंच वृत्ताकार बनाकर उसमें लाल रंग की डोरी डालकर, छोटे-छोटे विभिन्न रंगों के रत्न लगा कर मस्तक के दोनों ओर लटका दिया जाता है। इस के निचले किनारे पर मोती लगाए जाते हैं।

बालु—यह वह कर्णाभूषण है जो अंगूर के बड़े दाने के बराबर होता है तथा इस का आकार साधुओं के कमण्डल जैसा होता है। इस को कानों में पहना जाता है।

कनवाज—यह सोने की पतली सलाई के आधे भाग पर सोने की पतली तार लपेट कर बनाई जाती है। इस प्रकार तार को कई तरीकों से विभूषित किया जाता है। कभी-कभी इस के बीच में झुमका भी लटकाया जाता है। एक-एक कान में दस से लेकर बीस तक की संख्या में इन्हें पहना जाता है।

दूर (कर्णफूल)—चूंकि कनवाजि काफी भारी होती हैं अतः ससुराल जाने पर नवोढ़ा अपने कानों से कनवाजि खोलकर उस के स्थान पर झुमकेदार कर्णफूल पहनती है जो कनवाजि की अपेक्षा हल्के होते हैं। यह कुल तीन इंच लम्बा होता है तथा इस पर रत्न लगे होते हैं।

टिक (टीका)—यह ढाई इंच वृत्ताकार बनाकर चार हंगतावीजों के बीच में मस्तक पर लटका दिया जाता है।

ट्येख—यह एक रुपये के सिक्के के वरावर विभिन्न प्रकार से नक्शा-निगारी करके तथा मोती रत्न लगाकर, वृत्ताकार वनाकर लाल रंग को डोरी डाल कर पहना जाता है।

रोङ्ग—रोङ्ग कई प्रकार से वनाया जाता है। ग्राम तौर पर यह एक छोटा सा नग डालकर वनाया जाता है। रोंग का एक विशेष प्रकार 'सतवौर रोंग' के नाम से जाना जाता है। सोने की भिन्न-भिन्न तीन तहों को एक दूसरे के ऊपर सात नग डाल कर इसको नाक में पहनने योग्य ग्राभूषण वनाया जाता है। कश्मीर में जव कन्याग्रों के कान तथा नाक छेदते हैं, उस समय सभी सम्वन्धियों को बुला कर घर में एक उत्सव मनाया जाता है।

हटि फौल—इसे हलक वन्द भी कहते हैं। सतवोर हलक वन्द इसका एक विशेष प्रकार है। इस में सोने के सात छोटे-छोटे टुकड़े एक दूसरे के साथ जुड़े रहते हैं जिन में से तीन टुकड़े दायें तथा तीन टुकड़ वायें तरफ ग्रौर एक चौकोर ग्रथवा ग्रन्य किसी भी ग्राकार का वना एक टुकड़ा वीच में रखा जाता है। मध्य में रखे इस टुकड़े में झुमके के ग्राकार का एक ग्रलंकार लटका रहता है जिसे कश्मीरी भाषा में 'जिगनी' कहते हैं। इन टुकड़ों पर ग्रनेक प्रकार से नक्श-निगारी करके उन में लाल रंग की डोरी डाल कर इन्हें कण्ठ में धारण किया जाता है।

पटर—यह ग्राम तौर पर चांदी की बनी कोई तीन इंच लम्वी तथा दो इंच चौड़ी नली जैसी होती है जिस में विभिन्न प्रकार से नक्श-निगारी की होती है। इस में लाल रंग की डोरी डाल कर एक ही वाज़ू में पहना जाता है।

कोर—कोर (कड़ा) विभिन्न प्रकार से खोखला ग्रथवा ठोस वनाया जाता है। इसके दो सिरे सर्पाकार, सिंहाकार ग्रथवा ग्रन्य किसी पशु के ग्राकार के वनाये होते हैं। खोखले कड़े पर विभिन्न प्रकार की नक्श-निगारी की होती है जव कि ठोस कड़ा सादा भी होता है ग्रौर कभी-कभी उस पर विभिन्न प्रकार की चित्रकारी भी की होती है।

बुंगर—बुंगर (चूड़ियां) तो सामान्य रूप से भुजाग्रों में पहनी

जाती हैं। यह कई प्रकार की होती हैं। जैसे—दसि बुंगर, वाव्टि बुंगर, ग्रनबुंगर, विचिर बुंगरि, उकवार, दुवार बुंगरि तथा रोनि बुंगरि ग्रादि।

दासि बुंगर—यह दो प्रकार की होती है। प्रथम प्रकार उकवार बुंगर है जो ग्राधा इंच चौड़ी होती है तथा इस के दो किनारों पर दानेदार चित्रकारी की होती है तथा वीच में सादी होती है। दूसरा प्रकार 'दुवार बुंगर' है प्रथम प्रकार से दुगनो ग्रर्थात् एक इंच चौड़ी होती है।

वावटि बुंगर—यह डेढ़ इंच चौड़ी तथा वीच में गोल होती है तथा इस पर कई तरह से चित्रकारी की गई होती है।

ग्रान बुंगर—यह ग्राधे-ग्रधे इंच के शोशे के टुकड़ों से वनाई जाती है जिस में ग्रपना प्रतिविम्व दिखाई पड़ता है। इस प्रकार की चूड़ियों पर जव सूर्य की किरणें पड़ता हैं ता ये इतना चमकने लगता हैं कि दर्शकों के मन को एक दम मोहित करतो हैं।

विचिर बुंगरि—यह चूड़ियां डेढ़ इंच चोड़ी तथा एक इंच वड़ी होती हैं ग्रौर इन पर छोटे-छोटे फूल वना कर लगाए जाते हैं। इस के दो सिरे बुलबुल के केश को तरह बनाए जाते हैं जिस कारण इसे विचिर बुंगर कहा जाता है। (क्योंकि कश्मीरी भाषा में केशों को कभी-कभो विचर भी कहा जाता है।)

ग्रोक वारित दुवारि बुंगर—ग्रोकवारि तथा दुवारि चूड़ियों के कई प्रकार होते हैं। ग्रोकवार चूड़ियां दुवार चूड़ियां के साइज़ से ग्राधी होती हैं।

रोनि बुंगर—इस प्रकार की चूड़ियां ग्राधी इंच चौड़ी होती हैं तथा इस के किनारों पर छोटे-छोटे घुंघरू लटकाएं जाते हैं।

ग्रान वाज—ग्रान वाज 'ग्रंगूठी' सोने के पांच छोटे-छोटे पत्तों से वनाई जाती है। इन पत्तों में दर्पण के छोटे-छोटे टुकड़े डाले जाते हैं जिनमें चेहरा देखा जा सकता है। इस प्रकार को ग्रंगूठो की विशेषता यह है कि इस पर दिन में सूर्य की किरणें पड़ने से वे ईंतनी फैल जाती

हैं कि देखने वालों के मन को मोहित कर देती हैं ।

वागि वाज—वागि वाज (अंगूठी) गोलाकार होती है जिस में लाल रंग का एक विशेष प्रकार का नग लगा होता है जिसे कश्मीरी भाषा में 'मर्क़ज़' कहा जाता है । इस नग के किनारों पर छोटे-छोटे चार घुंघरू जुड़े रहते हैं। इस प्रकार की अंगूठी सगाई के अवसर पर वर की माता वधू की उंगली में पहनाती है ।

रोनिदामान—शादी के अवसर पर किमखाव, ज़रवाव तथा अतलस से बने वधू के फिरनों के निचले किनारों पर चांदी के छोटे-छोटे घुंघरुओं को धागे में डाल कर लगाया जाता है । इसी को रोनिदामान कहते हैं।

पांजेव (पायल)—पायल चांदी के घुंघरु लगा कर जालार जैसा बनाया होता है जिस को टखनों पर पहना जाता है । इस के किनारों पर भी छाटे-छोटे घुंघरू लटके रहते हैं जो चलने पर एक विशेष प्रकार की ध्वनि उत्पन्न करते हैं ।

न्यड कोर—न्यड कोर चांदी का बना होता है जिसे पैरों के अंगूठे में पहना जाता है । इसे 'न्यठ' भी कहा जाता है ।

किजि क्रुंश—यह चमड़े की बनी हरे अथवा लाल रंग की गुरगावी जैसी होती है । इसकी एड़ी थोड़ी ऊंची होती है तथा यह वधू को शादी के अवसर पर पहनायी जाती है ।

ज़ाजिपुलहोर—यह भी सामान्य पुलहोर की तरह धान के खेतों में उगी घास से बनाया जाता है । किन्तु यह सामान्य पुलहोर की अपेक्षा कोमल घास से बहुत ही बारीकी के साथ बनाया जाता है ।

खिलहोर—खिलहोर दो या तीन प्रकार का होता है। एक प्रकार गाय के चमड़े से दो पट्टियां लगाकर चप्पल जैसा बनाया जाता है ।

कनमल त दन्द खिलाल—ये दोनों चीजें ग्रामीण एवं नागरिक मुसलमान तथा पण्डित स्त्रियों दोनों के पास होती हैं जिन्हें बकसुए के साथ उन्होंने अपने फिरन पर आगे गले के पास बन्द कर रखा होता

है। 'कनमल' दो इंच लम्वा इतना पतला वना होता है जिस से कानों से मैल निकालते समय कानों में दर्द न हो। दन्द खिलाल विभिन्न प्रकार से चित्रांकित करके वनाया जाता है। ये दोनों चीजें चांदी अथवा पीतल की वनवाकर दुल्हनों को सिगारदानी में अन्य सामान के साथ दी जाती हैं।

वोच—यह केवल पुरुष नाक से छोटे-छोटे वालों को निकालने के लिये उपयोग में लाते हैं। यह दो-ढाई इंच लम्वा चिमटे के आकार का वना होता है जिस से वालों को पकड़ कर निकाला जाता है।

साज सन्दूक—साजसन्दूक वधू को अपने ससुराल जाने के समय देते हैं। नागरिक लोगों के पास यह अखरोट की लकड़ी का वना होता है किन्तु ग्रामीण लोग यह कायरु, चीड़ अथवा अन्य किसी लकड़ी का बनाते हैं। इस में जो चीजें रखी जाती हैं उनमें से नाड़ापानी, कंघा, सुरमेदानी भीतर रखी हुई छोटी सी सलाई, नाड़े के दो सिरों पर लगाने के लिये दो झुमके जैसे आदि चांदी के बने होते हैं। इस के अतिरिक्त इस डिब्बे में साबुनदानी, कन मल, दन्द खिलाल, सिर पर बांधे जाने वाले रुमाल के किनारों पर लगाये जाने योग्य छोटे-छोटे झुमके जैसे तथा और भी कई अन्य वस्तुएं रखी जाती हैं।

अल खलुर—अलखलुर चांदी का वना होता है। इस पर विभिन्न प्रकार से सुराही के चित्र चित्रित किये जाते हैं तथा यह वधू को ससुराल जाते समय पहनाया जाता है। इस में नवाद तथा छोटी इलायची रखी जाती है जो वधू अपने ससुराल में अतिथि कन्याओं को वड़े प्यार के साथ देती है।

सामान्य लोगों की वेषभूषा इस प्रकार है :—डवल जीन, शेतान तर, खदड़, कश्मीरी खानयोरि कपड़ा आदि।

विवाह के अवसर पर कुलीन वंशों की कन्याओं को सुसज्जित करने के लिये श्रृङ्गार करने वाली स्त्रियों को लाया जाता है जो दो-तीन दिन वध के घर में रह कर उस को कभी उवटन लगाती हैं तो कभी केश संवारती हैं, कभी नहलाती हैं तथा कभी इस प्रकार उस के केशों की चोटी वनाती हैं मानो काले रंग के मखमल पर लगी जाली हो इस

पर किसी कश्मीरी कवि की उक्ति है :—

ज़ालि वाकन वालि मुचराव,
वालि असि मय तम्वलावस ।

अर्थात् हे सुन्दरी ! तेरी इस प्रकार से गुथी चोटी पर हम मोहित हो गये । अब तू इन्हें खोल तथा हमें और अधिक मोहित करने का प्रयास न कर ।

शृङ्गार करने वाली इन स्त्रियों को कश्मीरी भाषा में 'साज़गरि' कहा जाता है जो साजगरपोरा की रहने वाली होती हैं । साज़गरपोरा कश्मीर में ज़डीवल तथा हवल के मध्य का भाग है ।

वधु को विवाह के अवसर पर दहेज के रूप में दिये जाने वाले कपड़ों के नाम इस प्रकार हैं :—

विवाह के अवसर पर वधू को दहेज के रूप में जो वस्त्र दिये जाते हैं जिवल, कनावेज़, दरियावी, मखमल, किमखाव, अतलस, जरवान, पश्मीना, रफल, कश्मीर (कपड़े) के अतिरिक्त और भी कई प्रकार के कपड़ों से वनाये जाते हैं । पुरुषों के लिये केवल अलपाक का फिरन वनाया जाता है ।

कश्मीरी पण्डितों का फिरन—कश्मीरी पण्डित इस प्रकार की वेशभूषा धारण करते हैं :—फिरन जो टखनों तक लम्वा होता है, जिस के बाज़ू काफी लम्बे किन्तु तंग होते हैं जिन को पीछे की ओर मोड़ा जा सकता है ।

चूड़ीदार पैजामा—कश्मीरी में इसको कुटन कहते हैं । ग्रीष्म काल में यह सफेद कपड़े तथा शीतकाल में गर्म ऊनी कपड़े से वनाया जाता है । घुटनों के ऊपर आम पैजामे की तरह चौड़ा तथा घुटनों से लेकर नीचे टखनों तक तंग एवं चूड़ीदार होता है ।

कपर चादर—यह सफेद कपड़े अथवा रफल की बनाई चादर जैसी होती है जिसको पुरोहित तथा पण्डित गर्दन के इर्द-गिर्द लपेट कर कन्धों पर रखते हैं । यह एक गज़ चौड़ी तथा तीन गज़ तक लम्बी होती है ।

दस्तार (पगड़ी)– पगड़ी तीन प्रकार से वांधी जाती है। इन में से प्रथम प्रकार की पगड़ी को अनार की डली के समान वांधा जाता है जिस कारण इसे 'चामनि मोन्ज़ि' दस्तार भी कहा जाता है।

गोर दस्तार (पुरोहितों की पगड़ी)—इस प्रकार की पगड़ी नीचे से चौड़ी तथा ऊपर से तंग होती है।

ढूगर दस्तार—यह ढीली और डांवाडोल तरीके से बांधी जाती है।

अ्रान पठ—यह एक प्रकार की लंगोटी होती है जिसको सूती धागे से वनाई पतली डोरी के साथ नितम्व प्रदेश में वांधा जाता है।

खोरवान—कश्मीरी पण्डित तथा हिन्दू स्त्रियां घर में 'ख़ाव तथा ख़ावहोर' पहनते हैं तथा कहीं जाने पर पुलहोर, खिलहोर पहनते हैं।

कश्मीरी हिन्दू स्त्री का फिरन—कश्मीरी पण्डित स्त्रियां भी टखनों तक लम्वा तथा काफी चौड़ा फिरन पहनती हैं। यह विभिन्न प्रकार के कपड़े से वनाया जाता है। इस पर वह कटि प्रदेश में डेढ़ गज लम्वा कपड़ा वांधती हैं जिसे कश्मीरी भाषा में 'होल गन्डन' कहा जाता है। सिर पर वे कसावा की तरह 'तरंगा' पहनतो हैं।

तरंग—'तरंगा' या तो सफेद कपड़े का होता है अथवा एक विशेष प्रकार के दूधिया रंग के पारदर्शी कागज़ का होता है जिसे सिर के इर्द-गिर्द कलपुश (एक विशेष प्रकार की गोल टोपी जिस पर तिल्ला लगा होता है) के ऊपर वांधते हैं। इस पर मोटी-मोटी सुइयां लगाई जाती हैं जिन्हें हंगुसचन कहा जाता है। इस के ऊपर सर्पाकार गुंथी हुई पूच रखी जाती है जिस पर सुई से एक विशेष प्रकार की सिलाई की होती है।

डेजिहोर—डेजिहोर तरंगा के साथ एक पतली सूती धागे की डोरी में लटकाया जाता है जो डोलन के आकार का सोने से बना होता है। इस के अतिरिक्त यह वादाम के आकार का, सिंघाड़े के आकार का तथा और भी कई प्रकार का होता है। जिस डोरी में इस को

लटकाया जाता है उसे अटहोर कहते हैं जो सोने, रेशमी धागे अथवा मोतियों से बनी होती है।

तालरज़—तालरज़ प्रायः सोने की अथवा रेशमी धागे की बनी होती है जो सिर पर रख कर कानों में बन्द रखी होती है।

तोलसी—यह एक प्रकार की माला होती है जिसमें जौ के आकार के सोने के दाने होते हैं।

हटिफोल—यह चांदी का बना एक चौकोर अलंकार है जिसे धागा डाल कर गले में पहना जाता है। इसके विषय में यह बात ध्यान देने योग्य है कि यदि किसी कश्मीरी हिन्दू स्त्री के किसी सगे सम्बन्धी की मृत्यु हो जाती है तो वह उस समय इस के धागे को एकदम काट देती है।

सीन्ज़बोर—सींज़बोर गोल टोकरी की तरह तीलियों अथवा पेपरमाशी का बना डिब्बा होता है जिसमें वधु को सुसज्जित करने के लिये शृङ्गार-सामग्री रखी होती है।

हलकबन्द, कड़ा तथा झुमके हिन्दू तथा मुसलमान स्त्रियों के एक जैसे ही होते हैं।

गुनुस—यह सोने का बना वज़नदार कड़ों जैसा आभूषण होता है जिस के दो सिरे गुना (सर्पों की एक विशेष जाति) के मुंह के समान बनाए होते हैं और इसी कारण इसे गुनुस कहा जाता है।

अन्नत—अन्नत सर्पाकार कर्णाभूषण है जो कश्मीरी हिन्दू स्त्रियां अन्नत चतुर्दशी (भाद्रशुक्ल चतुर्दशी) को पहनती हैं।

इस के अतिरिक्त चफकलि तथा कंठमाला आदि भी कश्मीरी पण्डितानियां सोने अथवा चांदी की बनी ही पहनती हैं।

गोडकरि पांजेब—गोडकरि चांदी के बने कड़े में छोटे-छोटे घुंघरू लटका कर बनाए जाते हैं। पांजेबें अर्थात् पायल भी चांदी के बनाए जाती हैं। इन दोनों को पैरों से ऊपर टखनों में पहना जाता है।

योन्य (यज्ञोपवीत)—विवाह से पहले पुरुष 'त्रियोन' अर्थात्

तीन सूती धागों से युक्त यज्ञोपवीत तथा विवाहोपरान्त 'शुयोन' अर्थात् छः सूती धागों से युक्त यज्ञोपवीत पहनते हैं।

पन दाव—'पनदाव सोने, चांदी अथवा धागे की पतली जंजीर सी कश्मीरी पण्डित गले में पहनते हैं।

कतरि लर—यह कश्मीरी पण्डित वधू को ससुराल जाने पर दहेज के अन्य सामान के साथ देते हैं। चूंकि यह मिट्टी का घर जैसा बनाया होता है अतः इसका नाम कतरि लर पड़ा। इस का तात्पर्य यह होता है कि मायके वालों ने तो अपनी लड़की को दहेज के साथ मकान भी दिया है।

नरिवार—इसे कश्मीरा पण्डित स्त्रियां विवाह के उपरान्त अपने फिरन के बाजू पर लगाती हैं। यदि किसी स्त्री के पति का देहान्त हो जाये तो उसके लिए इसका प्रयोग वर्जित होता है। दूसरे शब्दों में यह कश्मीरी पण्डित स्त्री के सुहाग की निशानी होती है।

वटङ्कर—कश्मीरी हिन्दू कन्या विवाह से पहले जो फिरन पहनती है उसकी जेब दांई ओर होती है तथा विवाह के उपरान्त उसके फिरन की जेब बांई ओर होती है। यदि नाबालिग कन्या का विवाह किया जाये तो उसकी टाकोनि पर चांदी के बने अर्द्ध चन्द्र लगाये होते हैं। इस टाकोनि को बन्द रखने के लिये गलतन की तरह और भी कई चीजें लटका दी जाती हैं जिन्हें टङ्ग लटि कहा जाता है।

अनुवाद :—सत्यभामा राज़दान

———

कश्मीरी ललित कलाएं : कुछ प्रवृत्तियां

—अवतार कृष्ण राज़दान

इसमें कोई सन्देह नहीं कि सन् 1947 ई० के वाद भारत-मुकुट कश्मीर में, यहां की ललित कलाओं का अभूतपूर्व विकास हुआ। नाटक, नृत्य, चित्रकला, मूर्तिकला, वास्तुकला, संगीत आदि जैसी ललित कलाएं इन्हीं पैंतीस वर्षों में, एक नये मोड़ की ओर अग्रसर हुईं और इनका विकास-विस्तार करने में, हर किसी ने अपना अनुपम सहयोग प्रदान किया। नये-नये कलाकारों ने कला-मण्डप पर उतर कर अपनी कला का प्रदर्शन किया। इस प्रकार भारत के सभी प्रदेशों के कलाकारों की तरह, इस क्षेत्र में भी इनका सहयोग अविस्मरणीय रहा है और यह पूर्ण विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि भविष्य में भी कश्मीरी ललित कलाओं के सभी पक्ष प्रगति के पथ पर, उसी तरह नाज़-व-अंदाज से आगे की ओर अग्रसर होते रहेंगे, जिस तरह किसी निर्झरी का पानी वल खाता हुआ आगे की ओर वह कर, अपने लिए नई राहें, नई मंजिलें ढूंढ निकालने को तत्पर रहता है।

किन्तु यह तो रही सन् 1947 ई० के बाद की वात। इसके पहले क्या यहां की ललित कलाओं का कोई इतिहास रहा है? प्राचीन काल से क्या यहां इनकी कोई उज्ज्वल परंपरा रही है? क्या इनका भारतीय ललित कलाओं से कोई संबंध रहा है? क्या इनके विकास-विस्तार के लिए आज की तरह ही ध्यान दिया जाता था?—ये कुछ प्रश्न हैं जो हर किसी के मानस-पटल पर कौंध जाते हैं। आज भी इन पर ध्यान देने की काफी गुंजाइश है और आवश्यकता भी। आज तक

कितने ही लेखकों ने रचनाओं के माध्यम से इन पर अपने विचार प्रकट किये हैं जिनमें से कुछ का कहना है कि कश्मीरी ललित कलाओं की अपनी कोई परंपरा नहीं जो सत्य से कोसों दूर होकर पाठकों के मन में कई प्रकार के भ्रम पैदा कर गये हैं। दरअसल बात यह है कि कश्मीरी ललित कलाओं से संबंधित कोई भी रचना हमारे पास सुरक्षित नहीं। इसका कारण है यहां की वह राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक अशांति, जिसके फलस्वरूप यहां ललित कलाओं के इतिहास को रेखांकित करने वाले सभी चिन्ह अकाल ही काल-कवलित हो गये। इनके नाम पर घरों में जो कुछ सुरक्षित था, वह योरुपीय संग्रहकर्त्ता पैसों का लोभ देकर उठा ले गये और बाद में जो कुछ बच पाया, उसको आधार मानकर यहां की ललित कलाओं के इतिहास को निर्धारित करना कठिन हो गया।

कश्मीरी ललित कलाओं पर पूरी तरह ध्यान दें तो यह मानना पड़ता है कि इसका इतिहास बहुत पुराना है। कश्मीर-घाटी को जिस प्रकार प्रकृति देवी ने सुन्दर और मनमोहक बना दिया, उसी तरह यहां की जनता को सदा से ही ललित कलाओं से भी आप्लावित कर दिया है। इनमें यहां की गगनचुम्बी हिम मंडित पर्वत मालाओं की अनुगूंज है। इसके दामन में बहती हुई कल-कल करती हुई नदियों की लय, झीलों और झरणों का रोमांच, गुनगुनाती हवाओं की सिहरन, रंगारंग फूलों का सौंदर्य, प्रेमी हृदयों के मिलन का सुख और वियोग का दर्द, राज महलों की विलासिता, शैव-दशन (त्रिक-दर्शन) की महिमा, सूफियाना अंदाज़ तथा संवेदना और तर्क का सामजस्य है। इन्हीं विशेषताओं के कारण कश्मीरी-जनता ललित कलाओं के प्रति विशेष अनुराग रखती आयी है और इनके विकास के लिए प्राचीन काल से सराहनीय कार्य करती रही है और इनकी अपनी पृथक शैली को कायम रख कर सभी पक्षों में समृद्धि के पृष्ठ जोड़ती रही है। यद्यपि इस विषय पर बहुत कुछ लिखने की गुंजाइश है तथापि इस छोटे से लेख में ऐसा सम्भव नहीं। फिर भी मैं इनके हर एक पक्ष को पाठकों की जानकारी के लिए उजागर करने का हर सम्भव प्रयत्न करूंगा।

कश्मीरी-रगमंच : नाटक

कश्मीर में रंगमंच पर नाटक खेलने का इतिहास बहुत पुराना है। नीलमत पुराण में 'प्रेक्षः' एवं 'प्रेक्षणकै' जैसे शब्द इस बात के सफल प्रमाण हैं।[1] यहां एक और शब्द 'प्रेक्षदानः' का उल्लेख भी आया है जिसका साहित्यिक अर्थ नाटक देखने के लिए टिकट खरीदने से हो सकता है।[2] कश्मीर के सुप्रसिद्ध संस्कृत कवि बिल्हण ने 'विक्रमादेव चरित्रम्' में नाटक का वर्णन करते हुत लिखा है कि यहां की स्त्रियां नाट्य-कला में संसार-प्रसिद्ध रही हैं। उनके अभिनय की तुलना रंभा, चित्रलेखा तथा उर्वशी जैसी स्वर्गिक अप्सराओं से होती थी।[3] इन सभी तथ्यों से इस बात का स्पष्ट संकेत मिलता है कि यहां समय-समय पर कई अभिनेता, निर्देशक एवं सूत्रधार हुए हैं जिन्होंने रंगमंच पर उतर कर, लोगों के मनोरंजनार्थ नाटक खेले हैं। आनन्दवर्धन के 'ध्वनिलोक' में भी इसका स्पष्ट उल्लेख है। कश्मीरी रंगमंच के इतिहास में नाटक का इतिहास धूमिल रहा है किन्तु बडशाह के राजकाल में नाट्य-साहित्य एवं कश्मीरी रंगमंच को एक नयी दिशा मिली थी, ऐसे प्रमाण मिलते हैं। इन्हीं के काल में इनके दरबारी कवि एवं लेखक बोधिभट्ट एवं अथसोम ने क्रमशः दो कश्मीरी नाटकों की रचना की जिनका शीर्षक है जैन-विलास एवं जैन-चरित। इनके समय की नाट्य गतिविधियों और 'जैन-चरित' पर प्रकाश डालते हुऐ श्रीवर लिखते हैं :—'रंगमंच मानो एक सुन्दर बाग की तरह होता था। इस पर पंक्ति में दीपक जलाये जाते थे। इसके सामने प्रेक्षक मद्यपान में ऐसे मस्त रहते जैसे मधुकर रंगारंग फूलों का रस लूटने में मस्त रहते हैं।"

कश्मीर में रंगमंच पर नाटक खेलने की शुरुआत उस समय हुई जब यहां उत्तर प्रदेश और पंजाब की रास-मण्डलियों के कलाकारों ने चौराहों और मोहल्लों में कृष्ण रासलीला खेलकर लोगों के सामने अपनी कला का प्रदर्शन किया। उस समय महाराजा प्रतापसिंह ने यहां

1. नीलमत पुराण, भाग 5, श्लोक 387.
2. वही, भाग 5, श्लोक 414, 527.
3. विक्रमादेव चरित्रम्, श्लोक 23.

कुछ एमेच्योर कल्बों की स्थापना करके रासलीला के साथ-साथ बिलवा मंगल, वीर-वालक, चन्द्रावती ग्रादि जैसे नाटकों का मंचन करवाया। इसके अतिरिक्त उस समय पारसी थिएटर कम्पनियां देश के विभिन्न भागों में नाटक दिखा रही थीं, उनको देखने के वाद कश्मीर के कई कलाकार इनसे प्रभावित हुए। इन्होंने श्रीनगर में गावकदल के निकट वितस्ता के तट पर ऐसी ही एक व्यावसायिक नाटक कंपनी खोल दी, किन्तु आर्थिक कठिनाइयों के कारण, यह ज्यादा समय तक न चल सकी। फिर भी रंगमंच एवं नाटक के विकास में इसने एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की जिसके फलस्वरूप कश्मीरी रंगमंच को कई प्रतिभाशाली कलाकार मिले।

कश्मीरी का पहला साहित्यिक नाटक 'सत्यच काहवट' (सत्य की कसौटी) सन् 1929 ई० में लिखा गया। इसके लेखक थे श्री नन्दलाल कौल। इसका कथानक सत्यवादी हरिश्चन्द्र और उसकी पत्नी तारामती के जीवन-संघर्ष पर आधारित था। यह नाटक प्रमुखतया संस्कृत-नाट्यकला से प्रभावित था। कथोपकथन में काव्यात्मकता का पुट भी विशेष मात्रा में था। सन् 1929 से सन् 1932 ई० तक यह नाटक कई बार 'रघुनाथ-मन्दिर' स्टेज पर खेला गया। इसके वाद कौल साहब ने कुछ और नाटक लिखे जिनमें उल्लेखनीय हैं—सावित्री-सत्यवान, कृष्ण-सुदामा, यमराज आदि। ये सभी नाटक मंच पर खेले गये। इनके पश्चात् कश्मीरी नाटककारों की परंपरा में तीन और नाटककार सामने आये। वे हैं गुलाम नबी 'सोज़' ताराचन्द 'बिसमिल' तथा नीलकण्ठ शर्मा। इन्होंने क्रमशः 'लैला-मजनू' एवं 'शिरीं-खुसरो' (ये दोनों नाटक राज पाल ग्रामोफोन कंपनी की तरफ से रिकार्ड किये गये), सत्येयच वथ (यह नाटक सन् 1938 ई० में हब्बाकदल श्रीनगर के प्रकाशक श्री अली मुहम्मद ने प्रकाशित किया) और बिलवा मंगल एवं 'स्वप्नवासवदत्ता' जैसे नाटक लिखे। इनमें से अंतिम भास के 'स्वप्नवासवदत्ता' का स्वतन्त्र रूपांतर था। सन् 1938 ई० में पहली बार मुहीउद्दीन हाजनी ने एक ऐसा नाटक लिखा जिसका वर्ण्य-विषय एकदम सामयिक तथा यथार्थता लिये हुए था। नाटक का नाम था 'ग्रीस सुंध घर' (किसान का घर) तकनीक की दृष्टि से यह एक नये

प्रयोग था।

सन् 1942 से सन् 1947 ई० तक की कालावधि ने कश्मीरी रंगमंच एवं नाटक को एक नया मोड़ दिया। इस बीच स्वर्गीय बलराज साहनी के सत्प्रयासों से यहां इप्टा की शाखा खोलने पर विचार हुआ। प्रदेश-सरकार चूंकि ऐसे सगठनों के विरुद्ध थी, इसलिए निश्चित यह हुआ कि इसके स्थान पर रंगमंच पर एक ऐसा नाटक प्रस्तुत किया जाये जो जनता में देश-प्रेम की भावना जगा सके। इस सिलसिले में नाटक के लिए आलेख यहां के प्रसिद्ध कथाकार प्रेमनाथ 'परदेसी' ने तैयार किया। इसका शीर्षक था 'वत हर' जिसमें इन्होंने यहां की खाद्य-समस्या एवं भुखमरी का चित्रण किया। किन्तु भाग्य की विडं-बना! तत्कालीन सरकार ने इसका मंचन नहीं करने दिया। इतना होते हुए भी कलाकारों का उत्साह भंग नहीं हुआ। वे कश्मीरी रंगमंच और नाटक को व्यवस्थित रूप देने में कटिबद्ध रहे। इस बीच तीन नाट्य संस्थाएं स्थापित हो गयीं। वे थीं श्री प्रताप ड्रामा क्लब, नेशनल ड्रामा क्लब तथा सुधार समिति ड्रामा क्लब। इनमें से अंतिम द्वारा प्रस्तुत 'विधवा' नाटक काफ़ी लोकप्रिय हुआ जिसमें एक हिन्दू विधवा के दारुण जीवन की मर्मस्पर्शी कथा कही गयी थी।

सन् 1947 ई० के बाद यहां बहुत से कश्मीरी एवं उर्दू नाटकों का मंचन हुआ है। कबाइली आततायियों को मुंह तोड़ उत्तर देने के लिए 'कश्मीर यह है' नामक नाटक का मंचन उस समय सफल रहा। इसी कड़ी के एक और नाटक 'शहीद शेरवानी' का मंचन भी हुआ जिसमें बारामूला निवासी शेरवानी का मातृभूमि के लिए अपने को बलिदान करने का चित्रण था। इसके बाद यहां कल्चरल फ्रंट की स्थापना हुई जिसके सत्प्रयासों से नाटक श्रमिक और कृषक वर्ग तक पहुंचा। इस सिलसिले में 'तीन बटा चार' एवं 'डालर साब' शीर्षक के लघु नाटक उल्लेखनीय हैं। इनमें से पहले नाटक का मूल संदेश यह था कि उपज का एक चौथाई भाग ज़मीन्दार को मिलना चाहिए और दूसरे में हाकिम-वर्ग द्वारा अधिक मुनाफा कमाने के लिए यन्त्री-करण पर तीखा व्यंग्य था। कल्चरल फ्रंट के टूट जाने के बाद 'कल्चरल

कांग्रेस' और वाद में 'आल स्टेट कल्चरल कान्फ्रेंस' नाम की साहित्यिक संस्थाएं वनीं। इनका ध्येय कश्मीरी नाट्यकला में नूतन प्रयोग करना था। उस समय इस संस्था द्वारा कई नाटकों का मंचन किया गया। सन् 1956 ई० में मनाये जाने वाले 'जशने-कश्मीर' में नाटक प्रतियोगिता से इत्तर, दो विशेष नाटक मंच पर प्रस्तुत किये गये। एक का नाम था 'नेकी ते वदी' और दूसरा था 'हब्बाखातून'।

सन् 1965 के वाद, कश्मीरी नाट्य-साहित्य और उसके मंचन आदि में उल्लेखनीय परिवर्तन मिलता है। इनमें से कुछ नाटकों का मंचन हुआ है और कुछ पुस्तकाकार भी मिलते हैं। जिन नाटकों का सफल मंचन हुआ है उनमें राधे कृष्ण ब्रारू का 'याहू', मोतीलाल क्यमू के नीन नाटक 'मंज़ल्य निक्क', 'त्रिनोव', 'हर्मखानुक ओन', अली मुहम्मद लोन का 'तकदीर साज़', अवतार कृष्ण 'रहवर' का 'तलाश' और 'अवलाद'; सजूद सैलानी का 'गाशि तारुक' और 'तोंत्य-कोर'; मुहम्मद सुब्हान भगत का 'अकनंदुन'; गुलाम रसूल संतोष का 'बुत ते बुलडोज़र'; बंसी निर्दोष का 'वस अख तमाह'; हरिकृष्ण कौल का 'नाटुक करिव बंद' आदि।

पुस्तकाकार रूप में जो नाटक उपलब्ध हैं उनमें अली मुहम्मद लोन का 'सुय्या', मोतीलाल क्यमू का 'छाय', 'लल्ल बे द्रायस लोलरे' और 'नाटक त्रुच' उल्लेखनीय हैं।

रूपांतरित नाटकों में 'कारवानी', 'मालिनी', 'चण्डाल कट', 'वोजुल्य गोलाव', 'राज़ त रान्य', 'डाकघर', 'म्य गछि नेचुव', 'शुज' आदि हैं। इनके मूल लेखक रविन्द्रनाथ टैगोर, इब्सन और जी. शंकर हैं। कश्मीरी अनुवाद नूर मुहम्मद 'रोशन', अली मुहम्मद लोन, अमीन कामिल और मोहन निराश ने किया है। इन में से कुछ एक का मंचन भी किया गया है।

नृत्य—

नाटक की तरह यहां के नृत्य का इतिहास भी पुराना है। इस सिलसिले में सव से पहला उदाहरण श्रीनगर संग्रहालय में प्राप्त उ

मृणटिकड़ियों से मिलता है जिन पर नृत्यांगनाओं के चित्र उत्कीरित हैं।[1] ये चौथी शती की बतायी जाती हैं। इसके अतिरिक्त, यहां पर एक और नृत्यांगना का बुत सुरक्षित है जो कोटिसर मंदिर के प्रांगन में प्राप्त हुआ है।[2] राजतरंगिणी के अनुसार यहां नृत्य का प्रदर्शन प्रायः मंदिरों में किया जाता था।[3] महाराजा जल्लूक के राज्यकाल में एक सौ से अधिक नृत्यांगनाएं ज्येष्ठेश्वर मंदिर में स्थायी तौर पर रहकर नृत्य-प्रदर्शन करती थीं।[4] वसुगुप्त ने अपने दार्शनिक सूत्रों में कश्मीरी नृत्यांगना की आत्मा से, रंगमंच की अन्तरात्मा से तथा प्रेक्षकों की इन्द्रियों से तुलना की है।[5] यहां व्यवसाय के तौर पर भी नृत्य करने का प्रचलन रहा है। महाराजा ललितादित्य के राज्यदरबार में वही नृत्यांगना स्थायी तौर पर रह सकती थी जिसने नृत्य को व्यवसाय के रूप में अपना लिया हो। इन्द्रप्रभा इसी काल की एक नृत्यांगना हुई है जिसकी नृत्यकला से प्रेक्षक इतने प्रभावित हुए थे कि वे इसको स्वर्गपुरी से इन्द्र द्वारा भेजी गयी अप्सरा कहते थे।[6] यही वह समय है जब उच्च-जातीय नर्तकियों के साथ निम्न-जातीय लड़कियां भी भाग लेने लगीं और राजा ने इनके साथ शादी की। इस सिलसिले में उत्पल वंशीय राजा चक्र-वर्मन ने दो ऐसी नृत्यांगनाओं के साथ शादी की, जिनका नाम था नागलता और हंसा।[7] प्रतापादित्य–२ एक ऐसी नृत्यांगना के प्रेम में उलझ गये थे जो एक व्यापारी की पत्नी थी।[8] महाराजा कलष नृत्यां-गनाओं को सादर बुलाकर अपने दरबार की महफिलों में चार-चान्द

---

1. Kak. R.C.—Ancient Monuments of Kashmir. Pl. XXVIII.
2. Buhlor, Report, P. 12.
3. राजतरंगिणी, तरंग 1, श्लोक 151.
4. वही , तरंग 1, श्लोक 151.
5. शिवसूत्र विमर्शनी, भाग 3, श्लोक 19, 11.
6. Kashmir-It's culture and Heritage by kaumdi, P. 105.
7. राजतरंगिणी, तरंग 5, श्लोक 361.
8. वही, ,, 4, ,, 3[illegible].

लगाते ।[1] महाराजा हर्ष स्वयं एक नर्तक था और वह लड़कियों को नाच सिखाने में गर्व महसूस करता था ।[2] मुसलमानों के शासन-काल में सबसे पहले जैन-उल-आब्दीन 'वड़शाह' ने नृत्यांगनाओं को नृत्य-प्रदर्शन करने के लिए प्रोत्साहित किया । इनके शाही-दरवार में कई नृत्यांगनाएं मौजूद थीं जिनमें तारा, दोपमाल और नृपमाल ने उस समय सारे भारत में प्रसिद्धि पायी । इनमें से तारा नृत्य की 39 भंगिमाओं का प्रदर्शन करना जानतो थी । हसन शाह और यूसुफ शाह 'चक' ने भी यहां नृत्य के विकास में सराहनीय योगदान दिया, किन्तु इनके बाद यहां राजनैतिक हलचल के पारणामस्वरूप रंगमंचीय गतिविधियां ठप्प होकर रह गयीं ।

वर्ष में पांच वार कश्मीरियों में नृत्य करने का प्रचलन रहा है। एक उस समय जब कोई धार्मिक उत्सव हो, दूसरा उस समय जव कोई सामाजिक उत्सव हो, तीसरा उस समय जव काई कृषि-संबंधी त्योहार हो, चौथा उस समय जव अंगूर पकना शुरू हो जाएं और अंतिम उस समय जव यहां वर्ष का सवसे पहला हिमपात हो । अब इनमें से सामाजिक उत्सवों को छोड़, किसी भो अन्य अवसर पर नृत्य नहों किया जाता है । सामाजिक अवसर, जैसे शादी-ब्याह पर गोत-गायन के अतिरिक्त हिन्दू एवं मुसलमान, दोनों परिवारों में नृत्य होता है जिसकी शैलियां एक दूसरे से भिन्न हैं । इसने अब लोक-नृत्य का रूप धारण कर लिया है । इस अवसर पर हिन्दू-परिवारों की ललनाएं, नृत्य प्रायः उस समय करती हैं जब दूल्हा वारातियों समेत सुसराल जाता है। घर की सारी महिलाएं जिनमें आतिथेय महिलाएं भी सम्मिलित होती हैं, एक रंगोली सजाती हैं, फिर इस पर 'वनवुन' या लोक-गीत गाती हुई, गोलाकार में नाचती हैं । इसको 'वीगि नचुन' कहते हैं । इस तरह की नृत्य परंपरा प्राचीन है । इस अवसर पर मुसलमान परिवारों में एक अलग शैली का नृत्य किया जाता है जिसको 'रोफ' कहते हैं । सुन्दर परिधान पहने महिलाएं पहले दो टोलियों में बंट जाती हैं, फिर एक

---

1. वही, ,, 7, ,, 606.
2. वही, ,, 7, ,, 1140.

दूसरे के कंधे पर हाथ रखकर कभी दायां पांव या कभी बायां पांव आगे बढ़ाकर एक दूसरे के सम्मुख खड़ी हो जाती हैं। इसके साथ ये रोफ-गीत का गायन भी करती हैं। जब तक गीत समाप्त न हो, यह क्रम चलता रहता है। रोफ-नृत्य यहां मुसलमान राजाओं के राज्यकाल से प्रचलित रहा है क्योंकि इसके प्राथमिक गीतों में अरबी एवं फ़ारसी शब्दों की प्रचुरता है।

कश्मीरी लोक-नृत्य का एक और प्रचलित रूप है 'दंमोल्य' या दंभाली। इसका शाब्दिक अर्थ है उछल-कूद। इसकी शैली अब लुप्त प्राय है, फिर भी इसकी आत्मा अमर है और दंभाली डांस सेंटर जैसी संस्थाएं इसे जीवित रखने के लिए प्रयत्नशील हैं। यह यहां के वातल या भंगी वर्ग तक ही सीमित रहा है। इसका उल्लेख राजतरंगिणी में भी है। इसके नर्तकों को 'नाग-कूर' कहते हैं। विद्वानों का कहना है कि कश्मीरी भंगी नागों की वंश-परंपरा से सम्बंध रखते हैं। यही वे नाग हैं जिनको आर्यों ने नीच मान कर कश्मीर के बाहर हिमालय की तराई, नेपाल तथा नेफा की ओर खदेड़ दिया था। यहां यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि पूर्वी बंगाल तथा नेफा की सीमाओं पर बसने वाले लोग भी लगभग इसी तरह का नृत्य करते हैं जिसको वे 'दामेल' कहते हैं।

भाण्डपाथर—

कश्मीरी नाटक के विकास की परंपरा में, कश्मीर के प्रसिद्ध लोक-नाट्य 'भाण्डपाथर' का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। 'भाण्डपाथर' संस्कृत के दो शब्दों 'भाण' और 'पात्र' के योग से बना है जिसका अर्थ है हास्य-व्यंग्य प्रधान हाव-भाव एवं अन्य प्रकार की शारीरिक चेष्टाओं से किसी स्थिति का अभिनय करना। अभिनय करने वाले भाण्ड या भगत कहलाते हैं जो अपनी प्रभावपूर्ण वेशभूषा, भंगिमा, कटाक्ष आदि से किसी भी सामाजिक, धार्मिक अथवा राजनीतिक विषय को मनोरंजक ढंग से, जनता के सामने प्रस्तुत करते हैं। इनमें से इनके दिखाये निम्न पात्र या नाटक उल्लेखनीय हैं जैसे राज़ पाथर, दर्ज पाथर, शिकारगाह आदि। मुगल काल में यह कला अपने चर्मोत्कर्ष पर थी किन्तु अफगान

ग्रौर सिख काल में यह कला पूर्णतया नष्ट हो गयी। सन् 1877 के भयंकर दुर्भिक्ष में इस कला के लगभग सभी कलाकार काल-कवलित हो गये। जो बचे रहे, उन्होंने तथा उनके वाद की पीढ़ियों ने इस नाट्यकला को छोड़ दिया। किन्तु सन् 1947 ई० के वाद इस कला की विश्रृंखलित कड़ियों को पुनः जोड़ने का प्रयास किया गया ग्रौर इसका श्रेय यहां के सुप्रसिद्ध नाटककार श्री मोतीलाल क्यमू को है। इन्होंने स्वयं इस कला को निखारने के लिए नाटकों को रचना करके, उनमें नव्यतम प्रवृत्तियों का ग्रन्वेषण किया। इन्होंने ग्रकिनगाम, वाहथोर, सोयबुग, पलहालन ग्रादि गावों में इस कला से सम्बन्धित कलाकारों को प्रोत्साहित करके सामने लाया। इनके वाद इस को जीवित रखने में ग्रकिनगांव के भाण्ड-कलाकार मुहम्मद सुब्हान 'भगत' का नाम उल्लेखनाय है। इन्होंने कश्मोर की वर्तमान ग्रार्थिक एवं सामाजिक समस्याग्रों पर नाटक लिखकर, उनका मचन किया। इतना सब होते हुए भी ग्रभी इस कला को ग्रागे ले जाने की काफी गुंजाइश है ग्रौर ग्रावश्यकता भी।

ग्रोपेरा या संगीत रूपक—

नाटक ग्रौर संगीत के साथ-साथ यहां संगीत-रूपक का ग्रपना महत्व रहा है। संगीत-रूपक वस्तुतः राजा के गुणों ग्रादि को ग्राधार बनाकर लिखा जाता था। इस सिलसिले में योधिभट का 'जैनचरित' भाण का 'हर्षचरित', प्रकाश राम का 'लव-कुश चरित' ग्रौर परमानन्द का 'सुदामा चरित' उल्लेखनीय हैं। किन्तु ये सव संगीत-रूपक पाठकों तक ही सीमित रहे हैं ग्रौर इनका मंचन करना संभव नहीं हो सका। कश्मीरी संगीत-रूपकों को एक नयी रूप-शली में रचना करने का श्रेय यहां के प्रसिद्ध कवि श्री दीना नाथ 'नादिम' को प्राप्त है। ग्राज तक इन्होंने कई संगीत रूपकों की रचना की जिनमें से ग्रधिकांश का मंचन हुग्रा है। किन्तु इनमें से इनके दो संगीत-रूपक लोकप्रिय रहे हैं। नाम है 'वाम्बुर त यंब्रज़ल' ग्रौर 'व्यथ' (वितस्ता)। इनमें से पहला प्रगतिवादी दृष्टिकोण पर ग्राधारित एक प्रतीकात्सक ग्रोपेरा है जिसमें ग्रसत्य के ऊपर सत्य को, ग्रन्याय के ऊपर न्याय की तथा सामतशाही के ऊपर लोकतन्त्र की विजय दिखायी गयी है। पतझर ग्रौर प्रभंजन इसमें

सामंतशाही के प्रतीक हैं जो हरी-भरी फुलवाड़ी के भोले प्राणियों—भौंरों, गुले लाला, टेकवटनी (फूलों के नाम) का जीना दूभर कर देते हैं। अंत में, प्रभंजन और पतझर को हार माननी पड़ती है : दूसरे ओपेरा में वितस्ता की महिमा, नाग और पिशाच के आपसी सम्बन्धों आदि पर प्रकाश डाला गया है। राज्य की कल्चरल अकादमी द्वारा तैयार करवाये गए इस ओपेरा का मंचन देश के विभिन्न भागों में हो चुका है और प्रेक्षकों ने इसे खूब सराहा है। नादिम के अतिरिक्त ओपेरा की रचना करने में अमीन कामिल, गुलाम रसूल 'संतोष', मोती लाल 'साकी' आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

कश्मीरी-संगीत—

कश्मीरी-संगीत का अपना कोई विशेष स्थान या पृथक शैली नहीं।[1] इसक नींव वस्तुतः सात सुरों पर आधारित है।[2] संगीत को गंधर्वों से सम्बन्धित माना गया है।[3] कई विद्वान कश्मीरी-संगीत का आधार टक राग मानते हैं, किन्तु यह सन्देहास्पद तथ्य जान पड़ता है क्योंकि इतिहास के किसी भी सूत्र से इसकी कोई जानकारी नहीं मिलती। वैसे इतना तो सही है कि कश्मीरी-संगीत का विकास मंदिरों और बौद्ध-विहारों में हुआ।[4] इसके अतिरिक्त धार्मिक-उत्सवों जैसे ब्रह्मा के सोने और जागने का दिन[5] और मौसमी त्योहारों जैसे वर्ष के पहले हिमपात क दिन पर[6] संगीत (वाद्य और गेय) बजाया जाता था। यह भी कहा जाता है कि यहां संगीत की स्वर-लहरियों को बौद्ध लामाओं ने लोकप्रिय बनाया।[7] यहीं से हिन्दुओं एवं बौद्धों के धार्मिक

1. श्रीवर कृत जैन राजतरंगिणी।
2. नीलमत पुराण, भाग 5, श्लोक 602.
3. वही, भाग 5, श्लोक 639.
4. Kashmir-It's Culture and Heritage by Kaumdi. P. 105.
5. नीलमत पुराण, भाग 5, श्लोक 703.
6. वही, भाग 5, श्लोक 468.
7. राजतरंगिणी, तरंग 1, श्लोक 140.

त्योहारों पर संगीत की सभाओं का आयोजन होने लगा।[1] राजा जलूक के बौद्ध-विहार में मामा नामक एक अंधा संगीतकार संगीत निर्देशक के रूप में काम करता था। तांत्रिक-पूजा पर वाद्य बजाने के लिए भी ये एक सिद्धहस्त कलाकार माने जाते थे।[2] फिर भी कश्मीरी संगीत के जीवंत उदाहरण उन मृण टिकड़ियों से मिलते हैं जिनका संवत काल चौथी शती बताया जाता है। इस समय ये श्रीनगर संग्रहालय में सुरक्षित हैं। इनमें से एक पर तीन संगोतकारों का अंकन है। पहला बांसुरी बजाता हुआ, बीच का मंजीरा बजाता हुआ तथा तीसरा ढोल पर थाप मारता हुआ दिखाया गया है।[3] स्वर्णकाल अथवा महाराजा ललितादित्य के राज्यकाल में, यहां कई संगीत-मण्डलियों की स्थापना हुई थी जो राजा के नवनिर्मित नगर परिहासपुर में दिन-रात वाद्य बजाकर राग-निर्माण में लगी रहती थीं।[4] किन्तु अब ये राग काल-कवलित हो गये हैं। यही वह समय था, जब यहां के हर गांव में अपना पृथक वाद्यवृन्द या आर्केस्ट्रा था।[5] महाराज कलष कई प्रकार के वाद्यों को बजाना जानते थे। शाम को जब वह अपने शयन-कक्ष में होते तो दूसरे कमरे में इनके सुलाने के लिए कई वादक-कलाकार बांसुरी और मंजीरे बजाते थे।[6] इनके पुत्र महाराजा हर्ष संगीत प्रेमी ही नहीं थे बल्कि कुशल संगीतज्ञ भी थे। उन्होंने कई संगीत शास्त्रियों को प्रशिक्षण दिया था जिनमें कल्हण के चाचा कनक का नाम उल्लेखनीय है। राजतरंगिणी में वर्णित है कि एक दिन जब इन्होंने शाही-दरबार में एक और संगीतज्ञ भोमनायक के ढोल बजाने का प्रदर्शन देखा तो वे इन पर बहुत खुश हुए। इन्होंने भोमनायक को हाथियों की एक जोड़ी

1. A History of Kashmir by P.N.K. Bamzai, P. 260
2. राजतरंगिणी, भाग 7, श्लोक 299.
3. R. C. Kak—'Ancient Monuments of Kashmir' Plates XXVIII, XVII.
4. राजतरंगिणी, तरंग 4, श्लोक 269-70.
5. 'Kasamir, It's Culture and Heritage' by Kaumdi, P. 105.
6. राजतरंगिणी, तरंग 7, श्लोक 606.

उपहार के तौर पर दी ।[1] इनके बाद कश्मीर की राजनैतिक परि-स्थितियां अस्थिर हो गयीं जिसके परिणाम-स्वरूप संगीतकार यहां से भाग गये। इन्हीं भागे हुए कलाकारों में शारंगदेव भी थे जिन्होंने यादवसिंह-२ (1210—1247 ई०) के शाही दरबार में शरण ली। ये दक्षिण के जनपद देवागिरि के राजा थे। इन्होंने शास्त्रीय संगीत पर 'संगीत-रत्नाकर'[2] शीर्षक से एक प्रामाणिक ग्रन्थ की रचना की जिस से इनकी यश कीर्ति की किरणें दिग्दिगंतव्यापिनी हुईं ।

कश्मीर में मुसलमानों के राज्यकाल में संगीत का विकास करने में सुल्तान शमसुद्दीन ने विशेष सहयोग प्रदान किया। इन्होंने संगीत पर कई पुस्तकों की रचना करवायी, किन्तु अब ये काल-कवलित हो गयी हैं। इनके बाद, इस दिशा में बडशाह का नाम सर्वोपरी है। इनके शाही-दरबार में यारकंद, समरकंद, ताशकंद, काबुल, पंजाब एवं दिल्ली के संगीत शास्त्री हर समय उपस्थित रहते थे। इन्हीं संगीत शास्त्रियों में किसी एक ने राजा को 'संगीत-कुटमणि' शीर्षक से एक पुस्तक भेंट की जो इन्हें बहुत पसंद आई थी।[3] संगीत शास्त्रियों को प्रोत्साहन देने के लिये ये इनको प्रतिवर्ष पुरस्कार देते थे।[4] इनके दरबार में स्थायी संगीतकारों में मुल्लाउदी का नाम सवपरि है।[5] गायकों में जाफरन का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने राजा के साथ 'त्रकुश-मकाम' भी गाया था। इनके बाद यूसुफ शाह 'चक' ने यहां के सगीत का अभूत-पूर्व विकास किया। इनकी मलिका हब्वा खातून स्वयं एक सगीत-प्रेमिका थी जिसने संगीत में 'शस्त-कश्मीरी' जैसे मकाम का आविष्कार किया था। मुगलों ने भी यहां के संगीत के विकास-विस्तार में अपना अनुपम

---

1. A History of Kashmir by P.N.K. Bamzai, P. 260.
2. 13वीं शती में शारंगदेव ने 'संगीत रत्नाकर' में देशीय रागों का उल्लेख कर राग-रागनियों के स्वरूप को निर्धारित किया—कादम्बिनी, फरवरी 1972, पृ० 102.
3. Kashmir–Its Cultural Heritage by Kaumdi, p. 107
4. Bs. 1149-ab. H. M. F. 13a
5. श्रीवर कृत जैन राजतरंगिणी, पृ3० 135-6

सहयोग प्रदान किया। इन के समय ईरानी, तूरानी एवं कश्मीरी संगीतकार एक ही मंच पर अपनी कला का प्रदर्शन करने लगे। पठान एवं सिख शासनकाल में, यहां के संगीत का कोई विकास नहीं हुआ, बल्कि उस समय इस पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था।

कश्मीर में प्रचलित वर्तमान संगीत-धारा को चार भागों में बांटने की गुंजाइश है :—1. सूफियाना संगीत, 2. सुगम संगीत, 3. लोक-संगीत और 4. शास्त्रीय संगीत।

कश्मीरी चित्रकला—

कश्मीरी-चित्रकला का इतिहास काफी पुराना है। इसका सब से प्राचीन उदाहरण नीलमत पुराण में मिलता है जिसमें लोगों को बौद्ध-विहार और चैत्य आकर्षक चित्र-रत्नों से सजाने को कहा गया है।[1] कल्हण कृत राजतरंगिणी में कश्मीर की पृथक चित्रशैली का वर्णन है।[2] दामोदर गुप्त के अनुसार, उस समय चित्रकारी सीखना यहां की वेश्याओं के लिये अनिवार्य समझा जाता था क्योंकि यह उनके चेहरे की सुन्दरता बढ़ाने में सहायक सिद्ध होती थी।[3] सोमदेव ने 'कथा सरित सागर' में छवि-चित्रकारों का उल्लेख किया है जो उस समय स्थायी तौर पर राज दरबारों में रहा करते थे।[4] यहां के हिन्दुओं में धार्मिक एवं सामाजिक महोत्सवों पर भूमि शोभा या रंगोली सजाने का प्रचलन प्राचीन-काल से चला आया है।[5] इस सिलसिले में हमारा एक धार्मिक महोत्सव है जिसको 'हार-सतम' या आषाढ़ शुक्ल पक्ष सप्तमी कहते हैं। इस दिन घर के आंगन में उदीयमान सूर्य का चित्र बनाया जाता है। सामाजिक महोत्सव या शादी-ब्याह पर रंगोली सजायी जाती है जिसको 'व्यूग' कहते हैं। घर में या ससुराल को जाने से पहले दूल्हा-दुल्हन को

1. नीलमत पुराण, भाग 5, श्लोक 688
2. राजतरंगिणी, तरंग 3, श्लोक 86
3. कुट्टनिमत काव्य, भाग 5, पृ० 59, 306
4. Introduction of 'Katha Saritsagar' by Lions— 'The civilizations of Ancient India. P. 157
5. Nilmat Puran edited by Dr. Ved Kumari. P. 115

इस पर खड़ा होना पड़ता है। एक और त्योहार है 'गोर-त्रय' या माघ शुक्ल पक्ष तृतीया। इस दिन कश्मारी ब्राह्मण अपने यजमानों की संतानों अथवा वहुओं को गहरे रंगों मे अंकित देवी-देवताओं के नयन-रम्य चित्र प्रदान करते हैं। जहां तक कश्मीर में 'प्रिमिटिव-आर्ट' का सम्बन्ध है, इस सिलसिले में बुर्जहामा की गुफाओं से एक वड़ा चपटा पत्थर प्राप्त हुआ है जिस पर एक चित्र उकेरा हुआ मिलता है। इस चित्र को सही-सही पहचानना कठिन है फिर भी यह वारासिंगे का हो सकता है या अन्य किसी ऐसे पशु-पक्षी का जिसका पीछा एक शिकारी करता है। कश्मीरी चित्रकारी का यह प्राचीन एवं सर्वश्रेष्ठ उदाहरण माना जाता है।

तारनाथ यहां की बौद्ध चित्रशैली को तीन श्रेणियों में विभक्त करते हैं—देव, यक्ष तथा नाग।[1] इनमें से तीसरी श्रेणी के चित्र प्रसिद्ध दार्शनिक नागार्जुन के जीवन-काल तक वरावर बनते रहे, जिनमें से अधिकांश बौद्ध-विहारों में सुरक्षित थे। इस शैली का अनुसरण मध्य-देश के कलाकारों ने भी किया था। उस समय इन दोनों देशों के कलाकारों के मध्य संपर्क रहा और यहां चित्रकला की एक नयी शैली का आविर्भाव हुआ जिसे 'कश्मीर-स्कूल' के नाम से जाना जाने लगा।[2] इसके अन्तर्गत जिन चित्रों की रचना हुई है, उसका प्रमाण चीन में प्राप्त उन तीन गुफाओं से मिलता है जिनके नाम हैं—तुनाङ, त्रुनकाङ और लुनमेन। इनकी दीवारों पर हज़ारों बुद्ध, उड़ती अप्सराएं, हिन्दू देवी-देवता, संरक्षण साधू तथा फूल-पत्तियों के उत्कृष्ट डिज़ाइन उत्कीर्णित हैं। कहा जाता है कि इनके रचयिता शाक्यबुद्ध, बुद्धकीर्ति तथा कुमारवोधि थे। कश्मीरी चित्रकारी का एक और जीवंत उदाहरण वे मृण-टिकड़ियां एव मृण-भांड हैं जो इस समय श्रीनगर के संग्रहालय में सुरक्षित हैं। यहां मृणभांड परोसने की तवची (थालियां) के रूप में मिलती हैं और इन पर स्त्री-पुरुष को विल्कुल नंगा दिखाया गया है। कहा जाता है

---

1. A History of Budhism, Tr. by W. T. Heely in Indian Antiquity Vol. IV P. 109.

2. A History of Budhism, p. 101

कि ये चित्र कोक-शास्त्र के आधार पर बने हुए हैं।

कश्मीरी चित्रकला पर यूनानी चित्रकला का यथेष्ट प्रभाव पड़ा है—ऐसा कई विद्वान कहते हैं। किन्तु इस सम्बन्ध में कोई उदाहरण हमारे पास सुरक्षित नहीं। केवल इनके कुछ सिक्के मिलते हैं जिन पर कुछ चित्रों का अंकन है। ये चित्राकृतियां आजकल शोध का विषय बन चुकी हैं। इसी प्रकार कई विद्वान विश्व-प्रसिद्ध चित्रकार मानी को कश्मीर-निवासी कहते हैं। किन्तु यह सत्य नहीं। अब्दुल फजल के अनुसार यह कहना कठिन है कि मानी कहां के थे, किन्तु यह सत्य है कि इन्होंने कुछ वर्ष कश्मीर में अपनी कला की साधना करते हुए व्यतीत किये थे। इनकी कृतियां 'अचरंग' नाम से मशहूर थीं।[1] दुर्भाग्य से आजकल उनके चित्र रत्न हमारे पास सुरक्षित नहीं। ६वीं शती में मानी की तरह, पूर्वी भारत के चित्रकार भी यहां आये हैं और इन्होंने यहां पाला चित्र शैली को जन्म दिया। इस तरह की चित्रकला कश्मीर, नेपाल और तिब्बत में खूब पनपी है। इस कला से सम्बन्धित पहला उदाहरण तरम बसीन, तथा मिंग्रए (कूचा) के क्षेत्रों से मिलता है। पश्चिमी तिब्बत के सायर प्रंग, मानन तथा रेड टेम्पुल की कई दीवारों पर कश्मीरी चित्रकला के कुछ अंश अब भी विद्यमान हैं।[2] ललितादित्य के राज्यकाल में कश्मीर राज्य का विस्तार कननौज और गौड़ तक होने से इन क्षेत्रों के चित्रकार यहां स्थायी तौर पर बसने लगे। उस समय का अलंकरण मार्तंड मन्दिर की दीवारों और पंजाब में अम्ब और मलोट में प्राप्त मन्दिरों की दीवारों पर मिलता है। इसी प्रकार चम्बा में प्राप्त एक चट्टान पर गंगा, यमुना, सरस्वती, वितस्ता, सिन्धु, विपाशा, शतद्रु तथा चन्द्रभागा के कुछ चित्र उत्कीर्णित मिलते हैं जो संभवतः ललितादित्य के शासन-काल की रचनाएं हो सकती हैं।[3] यही

---

1. Kashier by Dr. M.D, Sufi, p. 555.
2. Five Thousond years of Indian Art by Goetz, p. 143.
3. Vogal—Antiquities of Chamba State, Part I p. 216-20.

वह समय था जब शैव-दर्शन या त्रिक-दर्शन के तीन प्रधान तत्व—शिव, शक्ति और नर या अणु पर तरह-तरह के चित्रों का अंकन करके यहाँ की चित्रकला को एक नयी दिशा प्रदान की गई थी। कपड़े पर चित्र-कारी का समारंभ भी यहीं से होता है। कहा जाता है कि जब उच्चल आक्रांताओं ने हर्ष का वध किया तथा इनके राज-दरबार की सारी धन-सम्पत्ति लूट ली तो इनके हाथों सुनहरे रंग में अंकित चित्रों के कपड़े भी लगे। चित्रों का रंग इतना ठोस एवं वास्तविक था कि इन्होंने सोने के लोभ में कपड़ों को जला दिया, किन्तु अंत में इन्हें राख के ढेर के सिवाय कुछ नहीं मिला।[1] मुसलमानों के राज्यकाल में, पहले-पहल चित्रकारी के कुछ अंशों का प्रयोग मस्जिदों की दीवारों पर होता रहा। बाद में पुष्पालंकरण के साथ कुरान शरीफ की आयतों का अंकन हुआ। किन्तु बाद में बडशाह ने चित्रकारों को प्रोत्साहित करना और इनको संरक्षण प्रदान करना अपना कर्तव्य समझा। इनके शाही दरबार में मुल्ला जमील नामक एक चित्रकार स्थायी तौर पर रहा करते थे।[2] मुगलकाल में यहां चित्रकारी को एक नयी दिशा मिल गयी। अकबर के शाही दरबार में एक से अधिक चित्रकार मौजूद थे। इनमें गुजरात पंजाब और कश्मीर के चित्रकार भी शामिल थे।[3] कश्मीरी चित्रकारों ने पहली बार आगरा के चित्रकारों से प्रेरणा लेकर लघु चित्र तथा प्राकृतिक दृश्य चित्रों की रचना करके चित्रकारी का एक नया स्कूल कायम किया। यह भी कहा जाता है कि मुगल काल के कुछ चित्र लंदन के अलबर्ट और विक्टोरिया संग्रहालयों के भारतीय कक्ष में सुरक्षित हैं।[4] मिर्ज़ा हैदर दुगलत की शासनावधि में यहां कुछ ऐसे चित्रों की रचना हुई जिनमें युद्ध के दृश्यों का अंकन था।[5] इसी समय से यहां

---

1. राजतरंगिणी, तरंग 7, श्लोक 1575.
2. तारीख बडशाही, प० 436.
3. Indian Painting, by K. Bartha Ayer, P. 75.
4. Kashier by Dr. M.D. Sufi, p. 675.
5. Vincent A. Smith–A History of Fine Arts in India and Ceylon 1911, p. 454.

सफेद कपड़े पर चित्र बनाने का प्रचलन हुआ। पहले सफेद कपड़े को लिया जाता था। बाद में इस पर पानी के चित्र का रेखांकन किया जाता था। फिर उसमें तरह-तरह के रंग भर दिये जाते थे। इस तरह की चित्र शैली को 'अबीना' या 'कोशुर कलम' कहते थे। अकबर के बाद जहांगीर ने चित्रकला का विकास किया। इनके समय प्रतिवर्ष चित्र-प्रदर्शनियों का आयोजन होता था। इनके दरबार में कश्मीरी चित्रकारों की सख्या पांच थी।[1] इनमें से एक चित्रकार का नाम मास्टर मंसूर था।[2] इनके समय यहां एक कला-वीथिका भी मौजूद थी जिसमें नयनाभिराम चित्रों के साथ-साथ खुशनवीसी के कुछ उच्च कोटि के नमूने भी सुरक्षित थे। शाहजहां भी चित्रकला प्रेमी थे। किन्तु औरंगजेब के बाद यहां की चित्रकला का ह्रास हो गया जिसके परिणामस्वरूप यहां के चित्रकारों ने भागकर जम्मू के पहाड़ी क्षेत्रों में शरण लेकर बसोहली आर्ट को चर्मोत्कर्ष पर पहुंचाया। उन्नीसवीं शती में इस क्षेत्र के कलाकारों ने प्राकृतिक छटा, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं यथार्थवादी शैली के अनुरूप चित्र रत्नों की रचना की। इनमें ज़ोरावर सिंह की लद्दाख-विजय, अमरनाथ-यात्रा का चित्रण आदि उल्लेखनीय हैं।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात चित्रकला को आगे ले जाने में कई तरह के नूतन प्रयोग किये गये हैं। कई शैलियों के चित्रकार सामने आये हैं जिनमें से कुछ एक ने अन्तर्राष्ट्रीय ख्यति भी प्राप्त की है।

कश्मीरी मूर्तिकला—

कश्मीर में जो भी मूर्ति-रत्न प्राप्त हुए हैं, उनमें गांधार, गुप्त, गया, मथुरा, अमरावती तथा शुंग जैसी मूर्ति शैलियों की छाप है। नीलमत-पुराण में कई ऐसी मूर्तियों का उल्लेख है जो पत्थर, मिट्टी, सोना, तावा, लकड़ी, रेत, घास और घी की बनी हुई होती थीं।[3] आज कल यहां प्राचीन मूर्तियों के कई उदाहरण प्राप्त हुए हैं जिनमें चौमुखी

1. Indian Painting under Moughels by Percy Brown, p. 121.
2. Kashier by Dr. M.D. Sufi, p. 555.
3. नीलमत पुराण, भाग 10, श्लोक 409-10, 531, 440

विष्णु की मूर्ति, चार भुजाओं में तीर और कमान लिये हुए[1], कामदेव अपने साथियों के साथ बैठे हुए, रति और पार्वती, यमुना, त्रिमूर्ति आदि की मूर्तियां उल्लेखनीय हैं। इनमें से अधिकांश की गांधार और गुप्त शैली के आधार पर रचना हुई है। हारवन में प्राप्त मृण-टिकड़ियों पर जो मनुष्य-मूर्तियां उत्कीर्णित हैं वह चौथी शती की हैं। उनका किसी भी धर्म से कोई सम्वन्ध नहीं वल्कि इनकी रचना सांसारिक भावना से की गयी है।[2] कुषानोत्तर-काल के सर्वश्रेष्ठ नर-मस्तक जो उष्कर में प्राप्त हुए हैं, बौद्ध कालीन मूर्तिकला के सफल उदाहरण हैं। इनकी रचना गांधार मूर्ति शैली के आधार पर हुई है।[3] इस काल की मूर्तिकला में प्रायः यही देखा गया है मूर्तिकार पहले मूर्ति को बनाता था और बाद में इसको धमन भट्टी में पकाता था। इस तरह की मूर्तियां शोभा स्वरूप वौद्ध-स्तूप की दीवारों की खूंटियों पर लटकायी जाती थीं। कारकोट काल, जो ललितकलाओं का स्वर्णयुग माना जाता है, में मध्य-एशिया, मथुरा और गुप्त शैली के साथ-साथ तांग शैली के आधार पर भी मूर्तियां वनने लगीं। ललितादित्य के चीनी मंत्री चनकुर ने परिहासपुर के वौद्ध-स्तूप में इसी शैली पर आधारित महात्मा बुद्ध की एक मूर्ति रखी थी जो अव नष्ट प्राय है। धातु की वड़ी-वड़ी ढलवां मूर्तियां जो गुप्त शैली के आधार पर रची गयी हैं, मार्तंड और अवन्तेश-स्वामिन् मन्दिरों में प्राप्त हुई हैं। मार्तंड में एक वड़ी सूर्य-मूर्ति भी थी जो अब काल-कवलित हो गयी है। उत्पल वंशीय राजाओं ने जिन मूर्तियों की रचना की है, इनमें भगवान विष्णु की त्रिमूर्ति उल्लेखनीय है। इसी काल में वने अवन्तेशस्वामिन् मन्दिर के तोरणद्वार ड्योढ़ी पर गंगा और यमुना की मूर्तियां उत्कीर्णित हैं। यहां मूर्तिकार ने इनको

---

1. Development of the Hindu Iconography, p. 408, plate II,
2. Goetz -opelit, p, 69
3, The description of the Scriptures given above have been taken from the Numismatic section of S. P. Museum.

मगरमच्छ पर सवार दिखाया है। मूर्ति-रत्नों के साथ-साथ यहां के कुछ मन्दिरों में प्राचीन शिवलिंग भी सुरक्षित हैं। इनमें शंकराचार्य का शिव-मन्दिर जहां महाराजा जलूक ने शिव-लिंग स्थापित किया था और बूनियार का मन्दिर जहां के शिवलिंग के सम्बन्ध में कहा जाता है कि ये नर्बदा के घाट से लाकर यहां स्थापित कर दिये गये थे। डोगरा राजाओं के राज्यकाल में यहां जिन मन्दिरों का निर्माण किया गया, उनके मण्डनार्थ मूर्तियां या तो यहां के स्थानीय मूर्तिकारों ने बनायीं या बाहर से लायी गई हैं। स्थानीय मूर्तिकारों में नारायण सूरचघर का नाम उल्लेखनीय है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद यहां मूर्तियां बनाने की कला का अभूतपूर्व विकास हुआ और इस कला से सम्बन्धित कुछ कलाकार अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति की ओर बढ़ रहे हैं।

कश्मीरी वास्तुकला—

नीलमत पुराण में कश्मीरी वास्तुओं के नामों का उल्लेख इस प्रकार हुआ है—भवन, गृह, नैवीशन, आलय, अट्टालिका आदि।[1] बौद्ध वास्तुओं को इसमें चैत्य कहा गया है तथा वह बौद्ध-वास्तु जिनको बौद्ध लामा अपने आवास के रूप में प्रयोग करते, 'शाक्य-पथ' कहलाते थे।[2] कश्मीर में बौद्ध-वास्तुओं का निर्माण दूसरी और तीसरी शती से ही आरम्भ हुआ और छटी शती तक जो भी स्मारक या भवन बना, उन सभी का आधार गांधार वास्तु शैली है। इसका मुख्य कारण कश्मीर और गांधार के मध्य व्यापारिक एवं धार्मिक सम्बन्ध रहे हैं।

कश्मीर में अब तक जो बौद्ध-विहार एवं स्तूप प्राप्त हुए हैं, उनमें हारवन और उष्कर के बौद्ध-स्तूप सबसे प्राचीन हैं। इनका सर्व-सम्मत रचना-काल तीसरी शती माना गया है। शिल्प की दृष्टि से यदि देखा जाये तो ये वास्तु दो भागों में बांटे जा सकते हैं, आवास-गृह उपासना-गृह। पहले के अन्तर्गत परिहासपुर, का चतुर्भुज आकार का

---

1. नीलमत पुराण श्लोक 187, 359, 362, 370, 400, 558.
2. Archeological Report 1915-16, p.52. The Budhist buildings unearthed upto 8th Centurs.

बौद्ध-विहार है। अब यह पूरी तरह भग्नावशेषावस्था में है। उपासना के लिये बौद्ध-विहार अब पूरी तरह नष्ट प्राय हैं। फिर भी इनके संबंध में कहा जाता है कि ये अलंकृत पत्थरों से बनाये जाते थे। इन्हें गोलाकार नींव पर खड़ा किया जाता था। इनकी दीवारें नक्काशो से ~ लंकृत की जाती थीं। इस पर चार तोरण द्वार होते : इसका मध्य भाग प्राय: गुंबदाकार होता। इस प्रकार के बौद्ध स्तूपों के उदाहरण हारवन, पांद्रेठन और लधुव में मिलते हैं।

बौद्ध-धर्म के बाद यहां हिन्दू-मत का आविर्भाव होने लगा। इस कालावधि में यहां के वास्तु शिल्प पर कोई विशेष प्रभाव नही पड़ा। इसका कारण है दोनों धर्मों से सम्बन्धित समान पूजा-पाठ एवं रीति-रिवाज का होना। दोनों धर्मों की समान धार्मिक आवश्यकताएं होना। फिर भी इस कालावधि में सुघड़ता या बनावट में सादगी पर विशेष ध्यान दिया गया। बड़ी-बड़ी चूना या स्फ़टिक शिलाओं का प्रयोग, जिनको प्राय: लोहे के कीलों से जोड़ दिया जाता था। इसमें कभी-कभी सीमेंट का प्रयोग भी किया जाता था। शिलाओं को अपनी-अपनी जगहों पर स्थापित करने के पश्चात इनको अलंकृत किया जाता था। मंदिरों का स्थापन प्राय: रमणीक स्थानों पर किया जाता था, जैसे मार्तंड का सूर्य-मंदिर या अवन्तिपुर का अवन्तेश स्वामिन् मंदिर। इसके अतिरिक्त मंदिरों के झरीदार खंभे, घट-पल्लव शिखर और नरमुण्ड पक्षियों का अलंकरण किया जाता था। इतना ही नहीं, यहां के मंदिरों की वास्तुशैली के मुख्य अंश हैं गगनचुम्बी कलश, त्रिकोण छज्जों से घिरे भव्य प्रवेश-द्वार तथा त्रिदलीय मेहराबें। इन्हीं को दृष्टि में रख कर यहां के कई पुरातत्ववेता, कश्मीरी वास्तुकला को भारत की वास्तुकला से पृथक ठहराते हैं। सर वाल्टर लारेंस कश्मीर की वास्तुकला का आविर्भाव-काल आर्यों के प्रवेश करने के साथ ही निश्चित ठहराते हैं क्योंकि इन्होंने ही यहां भवन आदि के निर्माण करने का समारंभ किया है। त्रिदलीय मेहराओं के संबंध में इतना कहना चाहूंगा कि यहां इसका प्रचलन बौद्ध-विहारों के बाह्य स्वरूप को देखकर ही किया गया लगता है। इस तरह के उदाहरण स्यालकोट, मालोट तथा कटरा में भी प्राप्त हुए हैं। प्रसिद्ध पुरातत्वविद ई० बी० हावले के अनुसार, यहां के मंदिरों

को मेहराबों से सजाने का श्रेय वस्तुतः भारतीय वास्तुकारों को ही प्राप्त है। कश्मीर की वास्तुकला पर बाहर की शिल्प कला का श्रद्धेय उदाहरण हाथी का चित्रण है। यह अंश यहां की वास्तुशैली में उस समय प्रवेश कर गया जब ललितादित्य की विजय के अनन्तर तत्कालीन गौड़ाधिपति जोवित गुप्त अपने कई सभासदों समेत कश्मीर से निर्वासित कर दिये गये थे।

मुसलमानी वास्तु शिल्प में हिन्दूकालीन वास्तुकला के कई अंश प्राप्त होते हैं। ऐसी मस्जिदों में उल्लेखनीय हैं—मैदान साहब की मस्जिद और खानकाह। इनकी वास्तुशिल्प के सभी अंशों में एकरूपता है। आकार में ये समकोण हैं। इनकी दीवारें पट्टियों या ईंटों से बनी हैं जिन पर चूने का पलस्तर लगा हुआ है। बाद में ये फूल-पत्तियों से अलंकृत किये जाते थे। इसके अतिरिक्त इन पर एक 'गेबुल' लगी हुई होती जो कश्मीरी वास्तु शिल्प का एक नया अंश है। हर मस्जिद के आंगन में एक हौज़ बनाया जाना अनिवार्य माना जाता था।

कश्मीरी लोक-गीत

—अली मुहम्मद लोन

कश्मीरी लोकगीतों पर कुछ कहने से पहले यह आवश्यक जान पड़ता है कि कश्मीरी लोकगीतों और कश्मीरी कविता के आपसी सम्वन्धों की चर्चा की जाये जो सदियों से चले आ रहे हैं। कश्मीरी भाषा का यह सौभाग्य है कि इसमें लगभग सौ साल पुराना साहित्य उपलब्ध है। इसका कुछ भाग लिखित है तथा कुछ सुनते-सुनाते पीढ़ी-दर-पीढ़ी हम तक पहुंचा है। कश्मीरी कविता का एक सौभाग्य यह भी रहा है कि कश्मीरी कवियों की वहुत सी रचनायें व्यावसायिक तथा शौकिया गाने वालों ने भी सुरक्षित रखी हैं। कोई समारोह या सभा हो तो इन कवियों की रचनायें बड़ी लग्न, शौक और आदरभाव से गाई तथा सुनाई जाती रही हैं।

इन परिस्थितियों तथा वातावरण में जबकि लिखित रचनायें इतनी प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय रही हैं कश्मीरी लोकगीतों का वहुत बड़ी संख्या में मिलना आश्चर्य में डाल देता है। लोक गीतों का कोई भी शोधकर्ता इस वात से चकित हो सकता है तथा वह यह भी देख सकता है कि कश्मीरी भाषा तथा साहित्य का आंचल लोकगीतों के रंगबिरंगे मोतियों तथा जवाहरात से वैसे ही शोभायमान है जैसे कि इसकी कविता। यह बात भली-भान्ति सिद्ध हो जाती है कि कश्मीरी कविता पर यहां के लोकगीतों तथा लोकसंगीत का गहरा प्रभाव तथा छाप है। कश्मीरी भाषा के वहुत से प्रसिद्ध, अप्रसिद्ध तथा अज्ञात कवियों की

रचनायें बिल्कुल उसी ढंग से गाई जाती हैं जिसे हम शुद्ध लोकधुन तथा लय कहते हैं। श्रोता या पाठक को कभी-कभी यह निर्णय लेने में कठिनाई का अनुभव होता है कि वह जो कुछ सुन रहा है या पढ़ रहा है कोई लोकगीत है या किसी जाने-पहचाने कवि या कवयित्री की रचना है। हब्बा खातून के प्रथम चरण के लोकगीत, अरिण्यमाल की मानवीय प्रेम पर आधारित रचनायें, महमूद गामी के कुछ प्रेमगीत तथा महजूर की कुछ प्रारम्भिक ग़ज़लें भी कभी-कभी लोकगीतों की ही श्रेणी में ले आई जाती हैं। हो सकता है कि आलोचक मेरी इस विचारधारा से सहमत न हों परन्तु जहां तक मेरे अध्ययन तथा शोध ने मेरा मार्गदर्शन किया है इस प्रकार की कविताएं यदि अपने युग में या अब भी लोकप्रिय रही हैं तो इसका एक कारण यह भी है कि यह कविताएं कथ्य और शिल्प के धरातल पर लोकगीतों से गहरा सम्बन्ध रखती हैं। कश्मीरी कविता का गहन अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे कवियों ने लोकगीतों की लोकप्रियता को देखते हुए जान-बूझ कर अपनी कविताओं की नींव लोकधुनों पर रखी। इस प्रकार की कविताओं को जनता ने अपने दिलों में समो लिया। उदाहरण के लिये इस गीत को लीजिये :—

अच्छ पोशो जिगर गोशो,
अच्छ पोशो लोल आम।

अपनी प्रियतमा की तुलना एक जंगली फूल से करते हुए अपने हृदय का टुकड़ा (प्रेम की तीव्रता देखिए !) कहना और उसे अपने प्रेम की दुहाई देना एक शुद्ध लोक रीति है। सत्य तो यह है कि आज से चालीस वर्ष पहले यह गीत जितना लोकप्रिय था उसे देखते हुए मैं इसे एक लोकगीत ही समझता था। इस गीत का विषय, इसे प्रस्तुत करने का ढंग तथा इसकी धुन तक बिल्कुल "लोक" है। 1965 में जब मैं रेडियो कश्मीर के लिये प्रसिद्ध सूफी कवि समद मीर का एक इंटरव्यू रिकार्ड कर रहा था तो उन्होंने अपने गुरु की चर्चा करते हुए बताया था कि यह गीत उन्हीं के गुरु का है।

कश्मीरी कविता में संगीतात्मकता पर बहुत ज़ोर दिया जाता

रहा है किन्तु आधुनिक कविता के इस युग में इस बात पर बहुत गर्मा-गर्म वाद-विवाद होता रहता है कि कविता वह है जो गाई जा सके या कविता उसे समझा जाए जो केवल पढ़ने की चीज़ हो ? कुछ मनचले तथा परम्परा विरोधी कवियों के अतिरिक्त सभी कवि उसी कविता को मान्यता देते हैं जिसे गाया जा सके तथा जो जनता में लोकप्रिय हो। कश्मीरी कविता में संगीतात्मकता पर ज़ोर देने की परम्परा भी एक सोची-समझी चेष्टा का फल है और यहां के कवियों का यह चेतन प्रयास रहा है कि उनकी कविता की नींव यहां के लोकगीतों की लोकप्रिय विधाओं छकरी, रोफ, वद, सहमिश्री आदि पर रखी गई हो। इस चेतन प्रयास के कारण हमारी कविता का बहुत बड़ा भाग यहां की जनता के स्वभाव के अनुकूल रहा है। कश्मीरी कविता पर यहां के लोकगीतों के प्रभाव की चर्चा आगे चल कर विस्तारपूर्वक की गई है ताकि हमारे साहित्य में लोकगीतों के महत्व को रेखांकित किया जा सके।

अब यह तय हो चुका है कि लोकगीत मानव के अनथक प्रयास का स्वाभाविक परिणाम हैं। इसी विचारधारा को यूं स्पष्ट किया जा सकता है कि मानव आदिकाल से ही संघर्ष करता आ रहा है। उसने सदा प्रतिकूल प्राकृतिक परिस्थितियों का सामना किया है। जीवित रहने के संघर्ष में कभी उसे विजय मिली और कभी पराजय। अपनी विजय पर कभी वह खुल कर हंसा तो अपनी पराजय पर फूट-फूट कर रोया भी। जीवन को सुखमय बनाने की आदिम इच्छा तथा आकाँक्षाओं को परवान चढ़ाते उसने अपनी जीवन चर्या को भी आगे चलाया। मानव का यह अनथक प्रयास तथा प्रतिकूल प्राकृतिक परिस्थितियों के विरुद्ध उसका यह शानदार युद्ध अब भी जारी है और इसी न समाप्त होने वाले संघर्ष तथा युद्ध के परिणामस्वरूप लोकगीत जन्म लेते हैं। इन्सान ने अपनी थकान, वातावरण से उकता कर तंग आने, लड़ कर हारने और हार कर फिर विजयी होने की प्रक्रिया में अपने सीने में सुरक्षित उन इच्छाओं तथा आकांक्षाओं को भाषा दी है जो इसे मनुष्य बनाती हैं और इस जीवन को जीवित रहने योग्य बनाए रखती हैं। परिश्रम करते समय ऊंचे या धीमे सुरों में गाने से थकान कम अनुभव होती है

क्योंकि ऐसा करने से मनुष्य परिश्रम की एकरसता, वातावरण की सामान्यता तथा भावना के तेवरों को थोड़ी देर के लिये भूल जाता है तथा वह एक प्रकार की राहत अनुभव करता है। उसमें परिस्थितियों से जूझने का उत्साह अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंच जाता है। तभी उसमें जीवित रहने और जीवन को सुखमय बनाने की तीव्र इच्छा उत्पन्न होती है। इस मनःस्थिति में मनुष्य अपना कर्तव्य भूल कर जड़वत पशु बनने की इच्छा नहीं रखता बल्कि वह एक चंचल तथा तीव्रगामी धारा बनकर जीवित रहने का साहस रखता है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि इस प्रकार के गीत मनुष्य में आशावादी दृष्टि का संचार करते हैं।

दूसरी भाषाओं के लोकगीतों ही की भान्ति कश्मीरी लोकगीत भी कश्मीर में रहने वाले लाखों लोगों के दुःख-सुख, हंसी-खुशी, खेल-कूद, हास्य-व्यंग्य तथा इन्सानी भावनाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन गीतों की सबसे बड़ी विशेषताएं इनमें आपसी भाईचारा, प्रफुल्लमन बने रहने की कामना, साम्प्रदायिक भेदभाव से परे इन्सानी दोस्ती की महान तथा शानदार परम्परायें हैं। संकीर्ण मनोवृत्ति, साम्प्रदायिकता, जातिगत भेदभाव या इसी प्रकार का कोई और नकारात्मक भाव इन्हें छूकर भी नहीं गया। हो सकता है कि यह बात दूसरी भाषाओं के लोकगीतों के सम्बन्ध में भी सही हो क्योंकि मनुष्य चाहे जहां भी हो, जैसा भी हो, मनुष्य ही रहता है। राष्ट्रीय, जातीय, वर्गगत और नस्ली अन्तर होते हुए भी मनुष्य की आधारभूत प्रकृति और उसके मूल्य समान हैं और जब यही मनुष्य अपने जीवन की महान तथा उत्तम भावनाओं के क्षणों में वाकई मनुष्य बन जाता है तो शेष प्राणियों से महान कहलाता है। इन क्षणों में वह उन संवेदनाओं तथा कल्पनाओं को भाषा प्रदान करता है जो मानवता के मुकुट के चमकदार लाल तथा मोती बन जाते हैं तथा जिनकी चमक-दमक साम्प्रदायिकता, संकीर्ण मनोवृत्ति तथा दूसरे नकारात्मक भावों के अंधियारे में घोषणा करती रहती है कि मनुष्य एक है, मनुष्य महान है तथा वह इस संसार का सबसे बड़ा सत्य है।

कश्मीरी लोकगीतों की अनेक प्रचलित विधाएं हैं। इनमें रूफ,

नयन्दबथ, वनवुन, लडिशा, मन्जिलेवथ, शुईरबथ, छकरी तथा वाचुन इत्यादि शामिल हैं। इन विधाओं के अतिरिक्त कुछ गीत ऐसे भी हैं जिन्हें विषय तथा कल्पना के स्तर पर कविता का प्राचीन रूप माना जा सकता है। कश्मीरी लोकगीतों की भिन्न-भिन्न विधाएं अपने-अपने युग में वातावरण के अनुकूल गाई जाती रही हैं। "मंजिलवथ", वह गीत हैं जिन्हें हिन्दी में लोरी तथा अंग्रेज़ी में Lullabies कहते हैं। बच्चों को सुलाते समय माताएं प्रायः इन्हें गती तथा गुनगुनाती हैं। यह एक स्वाभाविक अनुभूति की सहज अभिव्यक्ति है : एक कश्मीरी लोरी में मां अपने बच्चे को सुलाते समय उसके लिये दीर्घायु, ऊंचे पद, प्रतिष्ठा सुख तथा शान्ति की कामना करती है। कान की वाली से बच्चे की तुलना करते हुए मां कहती है :—

ओ मेरे कान के वाले मैं तुझे झुलाऊंगी,
ओ मेरे वन के कस्तूरे देख परियां तेरे
लिए गा रही हैं।
मैं तेरे रहन-सहन और जीवन की
व्यवस्था करूंगी।
और तेरी काया पलट दूंगी।
मैं अतलस और किमख्वाव के
वस्त्र पहनाऊंगी
और तेरे लिए अण्डों का सालन
बनाऊंगी।

लोरियों के बाद बच्चों के गीत आते हैं। इनमें कुछ गीत ऐसे भी हैं जिनका कोई विशेष उद्देश्य नहीं। यह गीत वैसे ही हैं जैसे अंग्रेज़ी में Non Sensical Rhythems होती हैं। उदाहरण के लिए यह गीत देखिए :—

आर मोयन्जे,
तार मोयन्जे,
सरपर क्या ?
सोने की टोपी,

उस पर क्या ?
सोने की नाशपाती ,
तेरी सौतेली मां की ,
टांग टूट गई ।

इस गीत की पहली दो पंक्तियां बिल्कुल अर्थहीन हैं। शेष पंक्तियों में अर्थ तो है किन्तु वह भी केवल इतना कि बच्चे सौतेली मां को कोसते हैं। सौतेली मां के प्रति घृणा का भाव न्यूनाधिक मात्रा में सारे भारतवर्ष में एक जैसा है। सौतेली माताएं (यदि वह सौतेलापन दिखाती हों) बच्चों को सताती हैं। इस कारण वह भी बच्चों के ही व्यंग्य का शिकार बन गई हैं। इस समय हमारे यहां बच्चों के गीतों की संख्या बहुत कम है और इनकी संख्या दिन-प्रतिदिन घटती जा रही है। इसके अनेक कारण हैं। प्रथम यह कि खेलकूद के आधुनिक ढंगों ने इन गीतों को कम करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। बच्चों के अधिकतर गीत खेलकूद से ही सम्बन्धित होते हैं तथा आधुनिक खेलों में इस प्रकार के गीतों के लिये कोई स्थान नहीं है। "कउ शाले वूंम", "गोर मज्ज गोअर", "हिकट", (बच्चों के खेलों के नाम जिनमें गीतों के बोल भी प्रयोग किये जाते हैं।) आदि जैसे खेलकूद के गीत समाप्त हो रहे हैं। तथा इनका स्थान फुटबाल, हाकी, क्रिकेट आदि खेल ले रहे हैं। यह नए खेल हमारे बच्चों में अधिक लोकप्रिय होते जा रहे हैं। फिल्मी गीतों का प्रभाव भी बच्चों के गीतों पर पड़ा है। इन गीतों की सर्वप्रियता तथा प्रेषणीयता के अनेक साधनों के कारण बच्चों के गीत लोगों के दिलों से निकलते जा रहे हैं। बल्कि सत्य तो यह है कि हमारे छोटे-बड़े, स्त्री-पुरुष चाहे वह शहरों में रहते हों या देहातों में अब अधिकतर फिल्मी गीतों पर ही गुजारा करते हैं। यह भी देखने में आया है कि आजकल पढ़ी-लिखी माताएं भी अपने बच्चों को सुलाते समय फ़िल्मी लोरी या गीत का ही आश्रय लेती हैं।

"लडिशाह" हमारे लोकगीतों की एक महत्वपूर्ण विधा है। लडिशाह प्रस्तुत करने वाले कलाकार को भी लडिशाह ही कहा जाता है और इसका हमारे लोकसाहित्य में वही स्थान है जो आज से कुछ समय पूर्व योरुपिय देशों में "वार्ड" का था। परन्तु हमारे लडिशाह

ग्रौर वार्ड में एक मूलभूत ग्रन्तर यह है कि वार्ड ग्रक्सर कोई कथा कविता के रूप में सुनाया करता था ग्रौर हास्यव्यंग्य का बहुत कम प्रयोग करता था परन्तु लडिशाह किसी राष्ट्रीय या जन घटना, किसी प्राकृतिक घटना या फिर किसी महत्वपूर्ण मानवीय प्रयोग को कुछ इस प्रकार से ग्रपने श्रोताग्रों के सामने प्रस्तुत करता है कि एक ही समय में तीन-तीन उद्देश्य पूरे हो जाते हैं :—

(क) जनता का मनोरंजन होता है।

(ख) यह वृत्तान्त या घटना शुद्ध लोक ग्रन्दाज में। जनता के सामने ग्रा जाती है तथा इसे एक ऐतिहासिक महत्व प्राप्त होता है जो परम्परागत इतिहासों से ग्रधिक सत्य ग्रौर सही भी होती है।

(ग) इस वृत्तान्त या घटना की पृष्ठभूमि का सहारा लेकर प्रायः मानवीय ग्रथवा सांसारिक परिस्थितियों ग्रौर तज्जनित दुःखों पर पर्दा डालने के लिए इन्हें हास्य का पुट दे दिया जाता है। ग्रौर प्रायः इन परिस्थितियों पर उजड्ड अंदाज़ में व्यग्य कसे जाते हैं।

लडिशाह में दिन-प्रतिदिन की घरेलू परिस्थितियों तथा इन्सानो सम्बन्धों की जटिलता पर व्यंग्य ग्रौर हास्य का रंग चढ़ाने के ग्रतिरिक्त समय-समय पर ऐसे कई वृत्तान्तों ग्रथवा घटनाग्रों का वर्णन होता है जिससे ग्रधिक से ग्रधिक लोगों का शारीरिक, प्रतिभात्मक या मनोवैज्ञानिक जीवन प्रभावित हो चुका हो। कश्मीर में जव प्रथम बार हवाईजहाज़ ग्राया था तो उस समय लडिशा ने एक गीत गाया था जो ग्रव भी लोगों को स्मरण है :—

हवाई जहाज कश्मीर में ग्रा गया,
जिस किसी ने भी इसे देखा
उसकी जुवान से ग्रस्तगफर ग्रल्लाह निकला

भूकम्प, ग्रकाल, बाढ़, कोई भयंकर ग्राग, कोई ग्राक्रमण, कोई सामाजिक बुराई ग्रौर बहुत से राजनीतिक विषय लडिशा की कविता में ग्रवसरानुकूल स्थास पाते रहते हैं ग्रौर यह सब हम तक ऐक शुद्ध लोक स्वभाव के साथ पहुंचते रहते हैं। ग्रक्तूबर 1947 में कश्मीर पर ग्राक्रमण

हुआ। यातायात के सभी साधन बन्द हो गए। आवश्यक वस्तुओं का आयात रुक गया। नमक बाज़ार से लोप हो गया। पहले नमक छः पैसे से दो आने तक ऐक सेर विकता था और अब जनता दस रुपए से सोलह रुपए सेर तक के भाव से खरीदने को प्रस्तुत थी। ऐसा अकाल पड़ा कि पूछो मत। लडिशा ने इस स्थिति को यूं अभिव्यक्त किया था :—

1) तनिक रुक जाओ, मेरी बात सुनो
मैं तुम्हें नमक के अकाल की कथा सुनाऊंगा।
पति अपनी पत्नी से नाराज़ है
और उसने गृहस्थी की आवश्यक
वस्तुएं ताले में बन्द कर रखी हैं
वह खुद ही चाबी लेकर यह वस्तुएं पत्नी
को देता है
इस भय से कि पत्नी कहीं अधिक खर्च
न करे।
तनिक रुक जाओ, मेरी बात सुनो
मैं तुम्हें नमक के अकाल की कथा सुनाऊंगा।

× × ×

2) पति पत्नी के मना करने पर भी
अपनी हठ पर अड़ा है
और वह चूल्हे हाण्डी की बराबर देख-रेख
कर रहा है
कि कहीं पत्नी नमक का कोई टुकड़ा
छिपा कर न रख ले।
तनिक रुक जाओ, मेरी बात सुनो
मैं तुम्हें नमक के अकाल की कथा सुनाऊंगा।

नमक का अकाल तो एक अस्थायी घटना थी। किसी वर्ष जब फसलें अच्छी होती हैं और कोई अनहोनी घटना नहीं घटती तो देहात में बहुत से ब्याह रचाये जाते हैं। हर ओर बारातें निकलती हैं, गीत-संगीत होता है, पकवान पकाये जाते हैं और ब्याह से सम्बन्धित व्याव-

सायिक कार्यकर्ताओं की मांग बढ़ जाती है। इसका वर्णन लडीशाह यूं करता है :—

देहात और शहरों में शादियों की धूम है
बेटी वालों ने बेटे को कहला भेजा है
कि बारात लेकर सवेरे-सवेरे पहुंच जाएं
न पहुंचे तो शाम को बारात का स्वागत
तलाक के कागज़ से किया जाएगा।
देहात और शहरों में शादियों की धूम है।

लडिशाह अब भी देहातों और शहरों में इतना लोकप्रिय है कि लोग जैसे ही उसे आते हुए देखते हैं तो उनके चेहरे प्रसन्नता से खिल उठते हैं। वह लडिशाह के आगे पीछे एकत्रित होकर उससे गाने का अनुरोध करते हैं। उसका हास्य-व्यंग्य सुनकर वह कुछ समय के लिये अपना मनोरंजन करते हैं,हंसते हैं, प्रसन्न होते हैं हालांकि कभी-कभी लडिशाह इन्हीं लोगों पर व्यंग्य कसता है। "लडिशाह" विधा की लोकप्रियता का एक प्रमाण यह भी है कि आजकल कुछ लोग इस विधा में एक दूसरे पर व्यंग्य कसते हैं या फिर किसी अच्छे या बुरे राजनीतिक दृष्टिकोण का प्रचार भी करते हैं। आज़ाद कश्मीर रेडियोऔर रेडियो कश्मीर. श्रीनगर से अक्सर राजनीतिक विषयों पर लडिशाह प्रसारित होते रहते हैं और मुझे यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं कि लडिशाह दोनों ओर के श्रोताओं में बहुत प्रिय है।

अब से कुछ वर्ष पूर्व रोव या रुफ का प्रचलन केवल स्त्रियों में ही था। किन्तु इधर रेडियो कश्मीर, श्रीनगर के संगीत के कार्यक्रमों में इसे अब एक विशेष स्थान प्राप्त है और इसे अब महिलाओं से अधिक पुरुष कलाकार ही गाते हैं। इसके बावजूद यह तय है कि रुफ पर अब भी हमारी माताओं, बहनों तथा बेटियों का एकाधिकार है। रमज़ान के मास की शामों और ईद के दोनों त्योहारों पर रुफ गाया जाता है। कभी-कभी एक ही मोहल्ले में महिलाओं की अनेक टोलियां एक साथ गाती हैं और हर तरफ गीतों की गूंज पैदा होने के कारण मन को लुभाने वाला वातावरण बन्ध जाता है। ऐसे वातावरण में कभी-कभी

हृदय का दुःख बढ़ भी जाता है और कभी मनुष्य की अपनी ही इच्छाएं और आकांक्षाएं उसे जीवन की कड़वाहट की अनुभूति करवाने के साथ-साथ यह भी याद दिलाती हैं कि जीवन स्वयं प्रेम है और प्रेम ही जीवन है। कई लोगों का विचार है कि रुफ कश्मीर का लोकनृत्य है परन्तु मेरे विचार में यह सत्य नहीं है। महिलाएं जब दो धड़ों में बंट कर रुफ गाती हैं तो वह एक-दूसरी के कन्धों पर हाथ रखकर टांगों को एक विशेष लय पर झुलाती हैं। कई बार गाने की लय से इसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। इस ज़रा सी हरकत के लिए इसे नृत्य कहना कुछ उचित नहीं जान पड़ता।

रुफ के विषयों में एक विशेष नवीनता तथा रंगारंगी पाई जाती है। अधिकतर विषय महिलाओं के जीवन से सम्बन्धित होते हैं। एक महिला के जीवन में जो विशेष मरहले और मंज़िलें आती हैं उनमें उसका बचपन, मायका, ससुराल, प्रेम, घृणा, जीवन-मरण और इसी प्रकार की कई बातें आती हैं। हमारा रुफ इन सभी मरहलों को लिए हुए है। कश्मीरी महिला कभी-कभी खिलखिला कर हसती है और प्रसन्नता में कलोलें भरती है तो कभी आंसू बहाती अपने दुःख भरे जीवन का शोक मनाती नज़र आती है। ससुराल में सास, ननद और भावजों के हाथों तंग आई हुई एक कश्मीरी बहू का यह रोना धोना रुफ गीत का विषय है :—

बाग में जाते ही मैंने सफेद गुलाब की झाड़ी को सींचा
यहां से निकल कर मैं पनघट की ओर चल दी
वहां मुझे अपना बाप मिला
वह मुझे अपने घर ले गया
जिन सीढ़ियों पर मैंने पग धरे
उसने उन पर फूलों की वर्षा की
वह मुझे अपने कमरे में ले आया
अपने रंग-बिरंगे कमरे में उसने मुझे सिंहासन पर बिठलाया
मेरी दाहिनी ओर उसने एक बोलता हुआ
तोता रखा

ग्रौर वाईं ग्रोर एक जलता हुग्रा दीपक
मेरे सामने उसने कुरान खोला ग्रौर उसे
पढ़ने लगा।
मैंने धीरे-धीरे उसे ग्रपना रहस्य बताना
शुरू किया
ग्रौर इसके साथ ही मेरी ग्रांखों से
ग्रांसुग्रों की झड़ी लग गई
उसने कहा
बेटी ग्रब यह सब कुछ झेलना होगा।
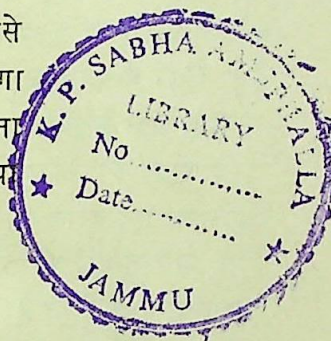
हमारा ग्राज का रुफ ग्रधिकतर प्रसिद्ध कवियों की रचनाग्रों तक ही सीमित रह गया है। कभी-कभी लोकगीत के संग हमारी माताएं, बहनें ग्रौर बेटियां प्रायः किसी प्रसिद्ध कवि के गीत भी गाती हैं परन्तु फिर भी ग्रभी तक शुद्ध लोकरुफ में कई गीत उपलब्ध हैं। इन गीतों में जो सादगी, गहराई ग्रौर भावनाग्रों की उथल-पुथल है वह उन गीतों में भूलकर भी ग्राने नहीं पाई जिन्हें हमारे कुछ कवि इस विधा में ग्रपनी कल्पना की उड़ान दिखाने की चेष्टा करते हुए रच रहे हैं। निम्न उदाहरण से स्पष्ट होगा कि इस विधा में कितनी गहराई, सादगी ग्रौर भावनाग्रों का ग्रछूतापन है।

चन्द्रमा निकला
रिहान के पौधे पर ग्रोस गिरी
ग्रो चन्द्रमा
ग्रा, ग्रौर निस्सहायों की सुध ले।
देख, जिनके भाई होते हैं
वे उनकी सुध लेने ग्राते हैं
ग्रौर जिनके भाई नहीं होते
वे दूर-दूर तक बाट निहारती हैं।
ग्रो चन्द्रमा।
ग्रा, ग्रौर निस्सहायों की सुध ले

धान की पनीरी लगाते समय तथा उसके उपरान्त फालतू घास-पात को

धान के खेतों से निकालने की प्रक्रिया को कश्मीरी में "न्यंद" कहते हैं और इस प्रक्रिया के वीच गाये जाने वाले गीतों को "न्यंद वाथ" कहते हैं। खेतों में काम करने वाले किसान जब तपती हुई दोपहर में कमर भुकाए खेतों में से फालतू घास तथा दूसरे प्रकार के अपने आप पैदा होने वाले पौधों को धान के पौधों से अलग करते हैं तो उनके परिश्रम की कठोरता एवं इरादे की महानता की अनुभूति एक साथ उजागर हो जाती है। जून-जुलाई की तपती दोपहर में धान के खेतों में न केवल फालतू घास-पात ही होता है बल्कि कई प्रकार के विषैले कीड़े-मकोड़े भी होते हैं परन्तु किसान फिर भी अपने काम में जुटे रहते हैं और इन सारी कठिनाइयों को झेलते हैं। इस वोच वह खुले मन से स्वर लगाते हैं। पंक्तिवद्ध वच्चे, बूढ़े तथा जवान स्वर में स्वर मिलाते हुए "न्यद वाथ" गाते हैं।

इन गीतों के संग कोई भी वाद्य प्रयोग में नहीं लाया जाता क्यों कि यह गीत जिस परिस्थिति और वातावरण में गाए जाते हैं उनमें किसी वाद्य का साथ होना संभव नहीं। एक किसान गीत का पहला वोल गाता है और दूसरे किसान इसकी टेक दुहराते हैं। कभी-कभी टेक गाने वालों में से भी कोई किसान गीत का कोई बोल गाता है और शेष किसान उसका उत्तर देते हैं और इस प्रकार बोलों का यह आदान-प्रदान चलता रहता है। इन गीतों की एक सवसे वड़ी विशेषता यह है कि गाने का स्वर वहुत ऊंचा होता है। विशेषकर गीत का पहला बोल गाने वाले को वहुत ऊंचे स्वर से गाना पड़ता है और सहयोग देने वाले उससे ज़रा कम ऊंचे स्वर में आवाज़ लगाते हैं।

कृषि की इस प्रक्रिया के वीच यदि आप किसी गांव से गुजरें तो आपको इस प्रकार की गाने वाली अनेकों टोलियां खेतों में अपने कार्य में व्यस्त मिलेंगी। यदि खेत दूर-दूर तक फैले हों तो इन गीतों की गूंज दूर-दूर तक सुनाई देती है। इन गीतों को सुनने से मन के साथ-साथ आत्मा को भी एक प्रकार की राहत तथा खुशी मिलती है।

धान की पनीरी लगाते समय महिलाएं भी कभी-कभी गीत गाती हैं परन्तु इन गीतों के विषय हमारे दूसरे लोकगीतों की अपेक्षा

संकुचित हैं। अधिकतर गीतों का विषय प्रेम है और कभी-कभी कोई बात भी गाई जाती है। धीरे-धीरे यह सत्य भी स्पष्ट होता जा रहा है कि इन गीतों के गायक भी अब अधिकतर जाने माने कवियों की रचनायें ही गाते हैं परन्तु फिर भी कुछ शुद्ध लोकगीत इस विधा में अब भी उपलब्ध हैं।

यही हाल छकरी के गीतों का भी है। छकरी हमारे लोक-संगीत की एक लोकप्रिय विधा है। यह विशेष अवसरों तथा समारोहों पर गाई जाती है। छकरी में अब भी कभी-कभी लोकगीत की छाप दिखाई देती है परन्तु अधिकतर गायक प्रसिद्ध कवियों की रचनायें छकरी की धुनों पर गाते हैं। छकरी सहगान के रूप में गाई जाती है और प्रत्येक गायक कोई न कोई साज़ स्वयं बजाता है। छकरी के पुराने साजों में मटके, छोटी सारंगी और तुम्मखनारी का विशेष महत्व था। अब इसमें रबाब, हरमोनियम आदि भी सम्मिलित हो गए हैं। इन साजों के आने से कश्मीरी संगीत पर विशेषकर छकरी पर उत्तरी भारत के संगीत का प्रभाव पड़ा है और अब इस प्रभाव पर भी फिल्मी संगीत का प्रभाव दिन-प्रतिदिन उजागर होता जा रहा है। छकरी पर इन बाहरी प्रभावों के कारण इसका लोक स्वभाव धीरे-धीरे विलीन होता जा रहा है। इस सम्बन्ध में हमारे प्रान्त के एक बड़े सांस्कृतिक विशेषज्ञ का यह कहना मुझे भी सत्य जान पड़ता है कि :—

> "जिस तीव्रता के साथ हमारी छकरी पर फिल्मी संगीत हावी होता जा रहा है उससे यह स्पष्ट है कि यह संगीत फिल्मी गीतों के साथ-साथ राकेण-रोल, ट्विस्ट तथा रंभा-खंभा पर आकर प्राण त्याग देगा।"

सत्य तो यह है कि फिल्मी गीतों की लोकप्रियता को देखकर हमारी छकरी के गायक कलाकार आंखें मूंद कर इसकी सुन्दरता को ग्रहण लगा रहे हैं और रेडियो कश्मीर, श्रीनगर से जितनी भी टोलियां छकरी गाती हैं उनमें से नब्बे प्रतिशत फिल्मी गीतों की नकल करके छकरी के असली लोक स्वभाव तथा स्वरूप को नष्ट कर रही हैं। कई टोलियां

तो मध्य एशिया के लोक संगीत का भी प्रयोग करती हैं और ऐसा करते-करते वे छकरी की आत्मा को ही मिटा रही हैं।

इन सारी बातों का सम्बन्ध छकरी के गायकों से है जो हमारे इस लेख का विषय नहीं। हमारा विषय छकरी के गीत हैं। जैसा कि पहले भी मैं चर्चा कर चुका हूं कि छकरी के गीत अब बहुत कम मात्रा में उपलब्ध हैं और जो कुछ भी शेष रह गया है वह महिलाओं के कारण रह गया है क्योंकि वही शादी-ब्याह के अवसरों पर कुछ शुद्ध लोक गीत छकरी के रूप में गाती हैं।

शादी-ब्याह के गीतों को कश्मीरी भाषा में "वनवुन" कहते हैं और यह विशेषकर महिलाओं की चीज़ है। इन गीतों में जो नवीनता और विविधता पाई जाती है वह हमारे शेष लोकगीतों से कहीं ज्यादा है।

शादी-ब्याह पर जो रीति-रिवाज़ पूरे किये जाते हैं वनवुन उन सभी के संग गाया जाता है। लड़के या लड़की की मंगनी से लेकर उनके विवाह तक जितने भी मरहले आते हैं उन सभी मरहलों से सम्बन्धित सैंकड़ों गीत उपलब्ध हैं और इनसे पता चलता है कि हमारी माताएं, बहनें और बहू-बेटियां ब्याह की सीधी-सादी रीति को किस प्रकार एक महत्वपूर्ण और शानदार समारोह में बदल देती हैं। वनवुन का विषय अवसर तथा वातावरण के अनुकूल बदलता रहता है। शादो ब्याह के मरहलों का पूरा विवरण कविता के रूप में प्रस्तुत करने के अतिरिक्त वनवुन में हास्य-व्यंग्य तथा अश्लीलता से भी काम लिया जाता है। कभी-कभी परिवार की महानता के गीत गाए जाते हैं तो कभी वरवधू की सुन्दरता, मर्यादा तथा दूसरी अच्छी बातों की प्रशंसा की जाती है। इन्हीं गीतों में कभी-कभी महिलाएं प्रतिकूल परिस्थितियों का रोना भी रोती हैं। बढ़ती हुई महंगाई और आवश्यक वस्तुओं की कमी का भी हकीकत पसन्द पैरुये में ज़िक्र होता है। दूल्हा अपने ससुराल आ चुका है। अब उसकी और बारातियों की आवभगत की व्यवस्था का मरहला है। भोजन पक चुका है परन्तु महिलाएं प्रसन्न नहीं, क्योंकि जो कुछ वह करना चाहती थीं नहीं कर पाई हैं इसलिए वह कहती हैं :—

हम अपने हाथों में प्याले लेकर तुम्हें पिलातीं,
पर क्या करें महंगाई ने हमारी कमर तोड़ दी है।

स्पष्ट है कि हमारे शादी-ब्याह के गीत विशुद्ध रूप से लोक चेतना के संवाहक हैं। इनमें किसी जाने-पहचाने या प्रसिद्ध कवियों की रचनायें नहीं गाई जातीं। यद्यपि हमारे कई कवियों ने समय-समय पर वनवुन लिखे। परन्तु इन लिखित गीतों को वह लोकप्रियता न मिल सकी जो शुद्ध लोक गीतों को मिली है। अब्दुल अहद नादिम का एकमात्र नातिया वनवुन है जिसे लोकप्रियता प्राप्त हुई।

वनवुन का सृजन स्वयं महिलाएं करती हैं और कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कोई प्रसिद्ध वनवुन गाते-गाते वह उसमें वातावरण के अनुकूल आवश्यक तब्दीली या वढ़ोतरी भी कर डालती हैं। समय परिवर्तन के साथ-साथ इसमें नए-नए विषय भी आते रहते हैं। उदाहरण के लिए आजकल के युग में जबकि टेलीफोन अमीरी का चिन्ह बन गया हैं हमारी महिलाओं ने टेलीफोन पर भी एक वनवुन तैयार किया है जो शहर में वहुत लोकप्रिय है :—

निशात से मूलियां मंगवाओ,
गगरीवल के जल से इन्हें साफ करो,
फिर सोने की छुरी से इनके टुकड़े करो,
और इतनी देर में टेलीफोन कराओ।

इसके अतिरिक्त हमारे वनवुन में सूट-बूट, अचकन, गवर्नर, मोटर, जीप, अफसर तथा ऐसे ही दूसरे शब्द आ गए हैं। यहां पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि हमारे वनवुन में हमारा सामाजिक जीवन भली-भान्ति दर्शाया गया है। इसकी व्याख्या यूं की जा सकती है कि हमारे शहरों, कस्बों और देहातों में जो व्यावसायिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक अन्तर है उसे इन गीतों में भली प्रकार व्यक्त किया गया है। देहाती गीतों में अभी तक टेलीफोन, जीप, मोटरकार इत्यादि शहरी वस्तुओं की कोई चर्चा नहीं मिलती। देहात के आर्थिक, सामाजिक और शिक्षा की प्रगति की धीमी रफ्तार बहुत हद तक इसकी जिम्मेदार है। इसी कारण देहाती वनवुन अब भी प्राचीन ही नज़र आता है। उदाहरण के लिए यह गीत देखिए :—

1) सुखी राजहंस हमारी छत पर आ बैठा है,
जा, पता लगा कि यह कहां से आया है।

2) इस चन्दन के पेड़ के पास घास का एक
पौधा उग आया है।
जिसे नूर की हवाओं ने झूला झुलाया।

3) मशात को प्रार्थना करके ले आओ और
उसे कहो वह हमारी दुल्हन को सजाए-
संवारे।

4) बाट निहारते-निहारते हमारी आंखें पथरा
गईं साहबज़ादा (दूल्हा) कब आए।

5) दूल्हा ने पुल पार किया तो पानी में
आवाज़ हुई
और हम समझीं कि कोई रंगीन बुलबुल
आ गई।

6) उस पहाड़ी पर से तुमने पुकारा, और
इधर हंसिनी ने तुम्हारी पुकार सुन ली।

हमारे शादी-ब्याह के गीतों की एक और विशेषता यह भी है कि इन्हें हिन्दु और मुसलमान मामूली अन्तर के साथ गाते हैं। रीति-रिवाज़ों में थोड़ा-बहुत अन्तर होते हुए भी कश्मीरी हिन्दुओं का वनवुन भी उन्हीं इच्छाओं, आकांक्षाओं तथा आशाओं को व्यक्त करता है जो मुसलमानों का वनवुन करता है। वनवुन का अधिकतर भाग दोनों जातियों में एक समान है। शेष गीतों में कहीं-कहीं देवी-देवताओं तथा पवित्र स्थानों के नामों के अतिरिक्त कोई अन्तर नहीं। यह सब कहने का अभिप्राय यह है कि कश्मीरी भाषा के लोकगीत यहां के रहने वाले लाखों इन्सानों के सामूहिक चरित्र का प्रतिनिधित्व करते हैं। और इस चरित्र की नींव इन्सानी मित्रता, प्रेम तथा मानवीय भाई-चारे की महान परम्पराओं पर रखी गई है। ये ऐसी परम्पराएं हैं जिनपर कोई भी राष्ट्र गर्व कर सकता है।

——————   अनुवाद : नरेन्द्र शर्मा

लोसर—लद्दाख का नववर्षोत्सव

—छेवांग रिगज़िन

जिस प्रकार नदी के दोनों तटों पर दूर-दूर तक खिले फूलों से किनारे सुशोभित होते हैं उसी प्रकार सिन्धु नदी के दोनों तटों पर दूर-दूर तक फैले ग्राम, फलों की ही भांति, दृष्टिगोचर होते हैं जो उस पर्वत प्रदेश को एक अतिरिक्त गरिमा से मंडित कर देते हैं। वर्षा ऋतु में ज्यों बादलों के प्रथम गर्जन से विकम्पित पुष्प उल्लासमग्न हो जाते हैं उसी प्रकार लद्दाख के निवासी नववर्षागम यानी 'लोसर' के अवसर पर प्रसन्नता के अतिरेक के कारण उन्मत्त हो उठते हैं। दीपों की पंक्तियाँ गांव-गांव में प्रकाश की फुहार वरसाने लगती हैं। 'लोसर' को लद्दाखी लोग लगभग दीपावली की ही भांति मनाते हैं।

लोसर-पर्व का प्रारम्भ पूजा-पाठ से होता है। मुख्य लोसर के आरम्भ होने से पूर्व 'उपलोसर' का आयोजन किया जाता है। 'उप-लोसर' को तिब्वती बौद्ध धर्म के द्गेलुकपा सम्प्रदाय के संस्थापक और मूर्द्धन्य विद्वान, कवि, लेखक तथा महासिद्ध स्वामी 'र्ग्यालवा लोजङ टकस्पा' (वौद्धिसत्व सुमतिकीर्ति) की स्मृति में मनाया जाता है। उस दिन उन की पावन स्मृति में गांव-गांव, घर-घर में दीप जलाये जाते हैं और पूजा-पाठ का आयोजन किया जाता है। यह पर्व लद्दाख के अति-रिक्त तिब्वत, लाहुल-स्पिति, किन्नौर, भूटान, सिक्किम तथा अन्य अनेक-पहाड़ी (बौद्ध) क्षेत्रों में भी समान उत्साह के साथ मनाया जाता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि यदि 'उपलोसर' हमारे धार्मिक

इतिहास का परिचय प्रस्तुत करता है तो मुख्य लोसर प्राचीन राजा महाराजाओं के राजनीतिक इतिहास का। इस सन्दर्भ में एक वात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि इन दोनों पर्वों में लद्दाख की प्राचीन संस्कृति एवं परम्पराएं जीवित एवं मुखरित हैं।

'लोसर' तिब्वती पंचांग के अनुसार दसवें महीने की पच्चीस तारीख से आरम्भ होता है और ग्यारहवें महीने की चार-पांच तारीख तक निरन्तर धूमधाम से मनाया जाता है। लोसर का पर्व लद्दाखियों को अपनी प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति के यथार्थ प्रदर्शन का अवसर प्रदान करता है। पहले लद्दाख का लोसर भी तिब्वती लोसर के समान वारहवें महीने के अंतिम और पहले महीने के प्रथम सप्ताह में मनाया जाता था किन्तु वाद में एक ऐतिहासिक घटना-विशेष के कारण लद्दाखियों ने लोसर को तिब्वतियों से एक मास पूर्व मनाने का निश्चय कर लिया। लद्दाख के इतिहास में प्राप्त एक उल्लेख के अनुसार जव लद्दाख में 'ग्यलपो सिंहगे नामव्यल' नामक महाराजा राज्य करता था तव लद्दाख का तिब्वत के साथ युद्ध छिड़ गया था। क्योंकि यह युद्ध लोसर से एक माह पूर्व लड़ा जाना था और युद्ध एक मास में समाप्त हो जायेगा इसकी कोई निश्चित सम्भावना नहीं थी। अतः लद्दाखी सैनिकों ने सही तिथि से एक माह पूर्व ही लोसर का उत्सव मना लिया और लड़ाई पर चले गये। तव से लद्दाख का लोसर तिब्वती लोसर से एक महीना पहले पड़ता है।

29 तारीख की शाम को लद्दाखी लोग 'द्गुथुक' पीते हैं। 'द्गुथुक' में 9 पदार्थ—कोयला, मिर्च, नमक, रूई, अंगूठी, कागज, सूर्य, चन्द्रमा, चीनी आदि अलग-अलग 'आटे' में बंद करके डाल दिए जाते हैं। इसे 'गुथुक' भी कहते हैं। गुथुक पीते समय जिस व्यक्ति के हिस्से में जो वस्तु अथवा पदार्थ आता है, उसी के अनुसार उस व्यक्ति के प्राकृतिक गुणों एवं स्वभाव का परीक्षण एवं निर्धारण किया जाता है। उदाहरणार्थ, अगर किसी व्यक्ति के हिस्से में कोयला आता है तो उस व्यक्ति को मन का काला (गंदे विचारों वाला) माना जाता है। इस प्रकार 'द्गुथुक' में डाली गई नौ की नौ वस्तुओं के साथ एक-एक अर्थ जुड़ा रहता है जैसे—मिर्च से कटु वचन, रूई से शुद्ध विचार, कागज से

धार्मिकता, सूर्य से यश, चन्द्रमा से सौंदर्य और अंगूठी से कंजूसी आदि। जिस व्यक्ति के हिस्से में 'अच्छी' वस्तु आती है उसे पुरस्कृत किया जाता है और जिस व्यक्ति के हिस्से में 'बुरी' चीज़ आती है उसे दण्ड का भागी माना जाता है।

30 तारीख लद्दाख में 'नमगङ' के नाम से जानी जाती है। 'नमगङ' बौद्धों के मतानुसार धार्मिक अथवा शुभ दिन का पर्याय है। इस दिन पुनः गांव-भर में दीप जलाए जाते हैं। इस अवसर पर भक्ति-परक रचनाओं का गायन किया जाता है। यह गीत प्रायः इस पंक्ति से आरम्भ होता है :—

लामा ला बुलो, सुङग्यस ला बुलो, छोस ला बुलो, गेदुन ला बुलो।

अर्थात हम अपने गुरु, बुद्ध धर्म तथा संघ को ज्योति एवं श्रद्धा का यह भावपूर्ण उपहार पूर्ण श्रद्धा एवं आस्था के साथ समर्पित करते हैं। दीप क्रमपूर्वक व्यवस्थित ढंग से सजाये जाते हैं जिन्हें प्रायः बालक और युवा वर्ग के लोग ही जलाया करते हैं। इसी दिन शाम को लगभग सात-आठ बजे सभी घरों से 'मेतो' (अग्निपुंज) निकाले जाते हैं। घर से 'मेतो' बाहर ले जाने का अर्थ साल भर के कुकर्मों को जलाना होता है।

पहली तारीख को सभी लोग अपने सगे-सम्बन्धियों से मिलने जाते हैं और परस्पर एक दूसरे को शुभ कामनाएं अर्पित करते हैं। सम्बन्धियों से मिलने जाते समय प्रत्येक व्यक्ति के हाथ में एक मदिरा-पात्र (छङ्गी जमा), एक मंगल कपड़ा (टाशी खतक) और सात या पांच खमीरी रोटियां होती हैं। इस सारी प्रक्रिया को 'छकस' कहा जाता है। 'छकस' का शब्दार्थ प्रणाम है। मिलने आया व्यक्ति घर में प्रवेश करते ही घर के सभी सदस्यों को परम्परागत ढंग से 'जूले' (नमस्कार) करता है। नवविवाहितों के लिये 'छकस' करना अनिवार्य माना जाता है। इस दिन आम लोगों के साथ चूल्हे को भी गृहिणी के रूप में 'छंकस' करना पड़ता है। भगवान् बुद्ध की प्रतिमा एवं गुम्पाओं के साथ पशुओं, चक्की एवं अन्य उपयोगी वस्तुओं के सामने भी दीप जलाए जाते हैं। मनुष्यों को तो बिना किसी भेद-भाव के, देखने-मिलने मात्र पर, घर में आने का निमन्त्रण दिया ही जाता है, कुत्ते-बिल्ली को भी उस दिन

ससम्मान आमंत्रित किया जाता है ।

दो तारीख को 'वगड़ोन' (भोज) होता है जिस में ऊंच-नीच का भेद भुला कर सभी परिचितों को निमन्त्रित किया जाता है । इस अवसर पर नवजात-शिशुओं एवं सद्यः विवाहित जोड़ों को बुलाने पर विशेष वल दिया जाता है । 'वगड़ोन' के अवसर पर स्त्रियों एवं पुरुषों के वीच 'छङलु' (मदिरापान) की प्रतियोगिता होती है । लोसर के स्वागत में लद्दाख के नर-नारी मदिरोन्मत्त होकर निम्न प्रकार के गीत गाते हैं—

टाशी शोक थोरङ टाशी शोक ।
यगि गुङस्डोन थोनपोला टाशी शोक ।।
त्रिदाला त्रिसका युकस्पा देनि ।
टाशी पो योङससु ख्यील ।।
टाशी शोक थोरङ टाशी शोक ।
यगि मखङ ढुयिला टाशी शोक ।।
यप-युमला फ-म कुन युकस्पा देनि ।
टाशी कुन योङससु ख्यील ।।

"मंगल हो, प्रातः काल का मंगल हो । वह नीलगगन भी मंगल-मय हो जहां सूर्य-चन्द्र सुशोभित होते हैं···सव कुछ मंगलमय हो । उस घर का भी मंगल हो जिस में माता-पिता सकुशल निवास करते हैं··· ।"

इस अवसर पर लद्दाखी लोग भक्ति-रस के साथ-साथ वीर रस की भी अजस्र धारा प्रवाहित कर देते हैं । अपने गीतों के माध्यम से वे लोग अपने वीरों को बधाई संदेश भेजते हैं :—

ञेजा पवो कुनला टाशी देलेक्स युयिन
लोसर दुसछेन सोमे टाशी देवेक्स युयिन
मिलुस मिलुस जेरते इजुक मिलुस थोपगोस
पवो-पवो जेरते इजुक पचल स्तन गोस

"ओ हमारे वीर जवानो नये वर्ष के आगमन के इस शुभ अव-सर पर हम तुम्हें हार्दिक बधाई भेजते हैं । हम प्रार्थना करते हैं कि हमें जव-जव मानव जीवन जीने का अवसर मिले, हम तुम जैसे सेनानी बनें

ताकि हम अपनी मातृ-भूमि की रक्षा हेतु कार्य कर सकें।"

वीर एवं भक्ति रस के गीतों के परे भी एक संसार रचा जाता है। इसे लद्दाखी युवा रचते हैं। इस संसार में शृंगार-परक गीतों की प्रधानता होती है। बहुत से युवकों को एक लम्बी अवधि के बाद अपनी प्रेयसियों से मिलने का सुअवसर प्राप्त होता है और ऐसे में उनके कण्ठों से यह मधुर गीत फूट निकलते हैं—

अचे देमों ! गङो नस् स्क्योद पीन
मानस मजलपिनना ग्योदपावो छुङ
ङ सेम्म क्यी नस लुक्स ख्योरङ ला शतना
ख्योदरङ थुकसदेन मिछेस
हैमिस छेसछुई स्तनमो ला योङपा
ख्योदरङ दङ ज़लज़ोम सोङ ।।

"सुन्दरी ! तुम कहां से आई हो ? अगर मैं आज तुम से न मिल पाता तो उम्र भर पश्चाताप की अग्नि में जलता रहता। एक लम्बे अन्तराल के बीच तुम न जाने कहां खो गई थीं। इस सारी अवधि में मेरी क्या दशा रही, यह न तो तुम सुन सकोगी और न कल्पना ही कर पाओगी। खैर ! हम दोनों के भाग्य में एक दूसरे का जीवन-साथी बनना बदा है—इसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं। फिर भी, लोग कहते हैं कि हमें 'हैमिस मेले' ने मिलाया है......।"

नृत्य-संगीत-मदिरपान की इस सभा के समाप्त होने पर सब लोग एक दूसरे के दीर्घायु होने की कामना करते हुए, एक दूसरे को बधाई देते हैं और अपने-अपने घर चले जाते हैं। 'छङ' (शराब) पीकर मतवाले हुए चरण 'लोसर' पर्व के अंतिम क्षणों को साकार करते हुए गहरी निद्रा में मग्न हो जाते हैं।